रजत जयन्ती वर्ष

(जनवरी १९६३–दिसम्बर १९८७)
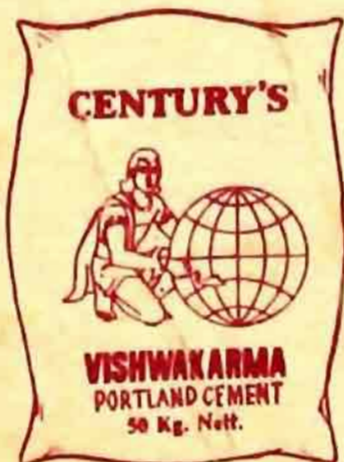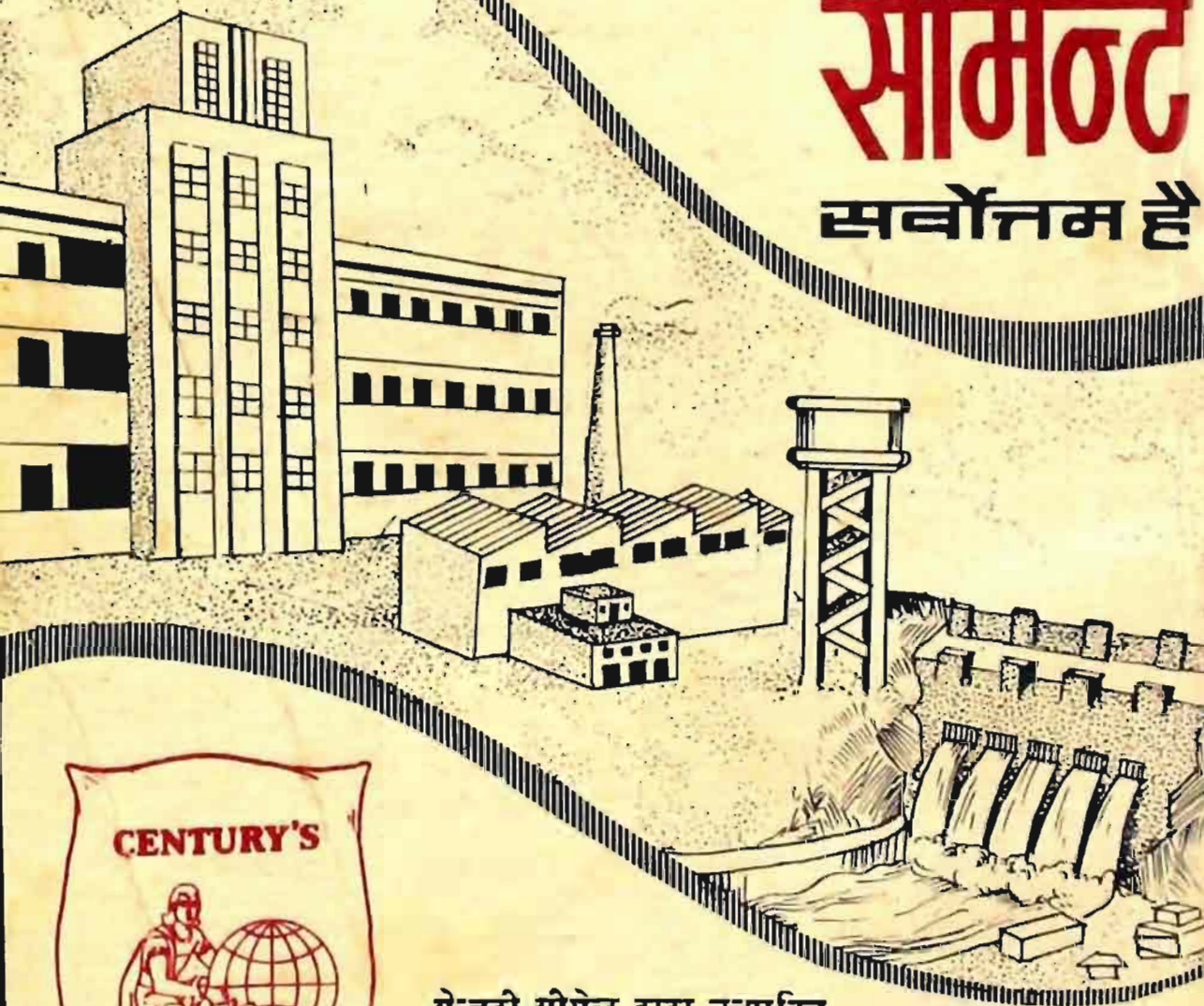
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)

वर्ष : २५ अंक ३

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

रजत जयन्ती वर्ष

१९६३-१९८७

जुलाई-अगस्त-सितम्बर
* १९८७ *

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर–४९२००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

७८वीं तालिका

(३० अप्रैल १९८७ तक)

२७५४. श्री भूषणलाल वर्मा, नरदहा, रायपुर।
२७५५. श्रीमती शीला कोचर, कानपुर।
२७५६. श्री कृष्णा साहू, दीपक नगर, दुर्ग।
२७५७. श्री एस. आर. मेघलान, इन्दौर।
२७५८. श्री कान्ती सेन श्रॉफ, पार्ले, बम्बई।
२७५९. श्री गुणवंत बड़ोदरिया, भावनगर (गुजरात)।
२७६०. श्री नारानभाई उपाध्याय, भावनगर (गुजरात)।
२७६१. कुमारी भक्तीबेन रावल, रूपानी सर्कल, भावनगर।
२७६२. श्री वि. ना. कस्तूरकर, मंत्रालय, बम्बई।
२७६३. श्री नीलमणि शुक्ला, कबलपुर, कटक (उड़ीसा)।
२७६४. श्री अनुकूल अनुराग शर्मा, श्रीनगर कालोनी, इन्दौर।
२७६५. सेठ बनवारीलाल एज्युकेशन सोसायटी, दिल्ली।
२७६६. श्री शंकरसिंह ठाकुर, धरदेही (बिलासपुर)।
२७६७. डॉ. एम. एल. शर्मा, महावीर चौक, कवर्धा।
२७६८. श्री एस. एन. शर्मा, लोअर बाजार, सोलन (हि.प्र.)।
२७६९. श्री वैजनाथ शर्मा, सूर्यनगर, भुवनेश्वर (उड़ीसा)।
२७७०. श्री दशरथ गुप्ता, पेण्ड्रा, बिलासपुर।
२७७१. प्राचार्य शासकीय उ.मा. विद्यालय, बारहाबड़ा,नरसिंहपुर।
२७७२. श्री लखमीचन्द चौकसे, परदेशीपुरा, इन्दौर।
२७७३. श्री उदय शेर्लेकर, सत्यसाईं बाल मंदिर, इन्दौर।
२७७४. श्री अरुण भोपटकर, तिलकपथ, इन्दौर।
२७७५. श्री दिगम्बर केलकर, रायपुर।
२७७६. श्री बालकृष्ण सिधु माने, मिरज (महाराष्ट्र)।
२७७७. श्री तिलक आर. सूर्यवंशी, विकासनगर, बैतूल।

२७७८. श्री रमेशकुमार तिवारी, चन्द्रमेढ़ा (सरगुजा)।
२७७९. श्री पारस सन्तोष जैन, जयपुर (राजस्थान)।
२७८०. कार्यालय उपसंचालक लोक शिक्षा ,शासकीय जिला ग्रंथालय, छिंदवाड़ा।
२७८१. श्री हरिहर बंजारे, टिकारी (बैतूल)।
२७८२. श्री चिनूभाई बी. पटेल, नाडियाद (गुजरात)।
२७८३. श्री श्रीचन्द गुप्ता, श्रीनगर कालोनी, दिल्ली।
२७८४. ठाकुर श्यामनारायणसिंह गौतम, मकरोनिया, सागर।
२७८५. श्री नानकचन्द भाटिया, तिलकनगर, गाजियाबाद (उ.प्र.)।
२७८६. श्री एल. व्ही. देसाई, सावंतवाड़ी, जि. सिन्धुदुर्ग (महाराष्ट्र)
२७८७. श्री आर. एल. कुलकर्णी, शिवाजीनगर, पुणे (महा०)।
२७८८. श्री दीवानसिंह पटेल, चारगाँवकला (नरसिंहपुर)।
२७८९. श्री बेनीप्रसाद पटेल, अमाड़ा (नरसिंहपुर)।
२७९०. श्री नन्दलाल के. कछवाह, बजाजनगर, नागपुर।

'विवेक-ज्योति' का अगला अंक विशेषांक

१९८७ का यह वर्ष आपके इस 'विवेक-ज्योति' त्रैमासिक के लिए 'रजत जयन्ती' का वर्ष है, क्योंकि जनवरी १९६३ में उसका शुभारम्भ हुआ था। इस बीच हमें अपने पाठकों से जो स्नेह और सहयोग मिला है, उसके लिए हम अपने हृदय का आभार प्रदर्शित करते हैं। प्रथम वर्ष का प्रथम अंक २,००० प्रतियों से शुरू हुआ था, आज इसकी ७,५०० प्रतियां छपती हैं। इस रजत जयन्ती वर्ष के उपलक्ष में 'विवेक-ज्योति' का अगला अंक (वर्ष २५, अंक ४) विशेषांक के रूप में निकाला जाएगा, जिसमें कई रोचक और तथ्यपूर्ण लेख पाठकों को पढ़ने को मिलेंगे।

पृष्ठसंख्या—२४०, मूल्य—५)
कृपया पाठक एवं अभिकर्तागण यह नोट कर लें।

अनुक्रमणिका

आवरण चित्र-परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २५] जुलाई-अगस्त-सितम्बर ★ १९८७ ★ [अंक ३

मोह की महिमा

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुंचामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ।।

——अज्ञानवश पतंग दीपक की लौ पर गिरकर अपने को भस्म कर लेता है, क्योंकि वह उसके परिणाम को नहीं जानता । इसी तरह मछली काँटे के मांस पर मुँह चलाकर अपने प्राण खोती है, क्योंकि वह उससे अपने प्राणनाश की बात नहीं जानती । परन्तु हम लोग तो अच्छी तरह जान-बूझकर भी विपत्तियों की जड़ विषयों की अभिलाषा नहीं त्यागते । मोह की महिमा कैसी गहन है !

——भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', १८

अग्नि-मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
२० मई, १८९८

अभिन्नहृदय,

तुम्हारे पत्र से सब समाचार विदित हुए; तुम्हारे 'तार' का जवाब पहले ही दे चुका हूँ। निरंजन तथा शाह गोविन्दलाल काठगोदाम में योगेन-माँ के लिए प्रतीक्षा करेंगे। मेरे नैनीताल पहुँचने पर किसी का कहना न मानते हुए घोड़े पर सवार होकर बाबूराम यहाँ से नैनीताल पहुँचा एवं वहाँ से लौटने के दिन भी हमारे साथ घोड़े पर सवार होकर ही वह लौटा है। डण्डी पर चढ़कर आने के कारण मैं पीछे रह गया था। रात में जब मैं डाकबँगले पहुँचा, तब पता लगा कि बाबूराम पुनः घोड़े से गिर गया था एवं हाथ में चोट लगी है––यद्यपि हड्डी नहीं टूटी है। मेरे फटकारने के भय से वह देशी डाक-बँगले में ठहरा है; क्योंकि उसके गिर जाने के कारण कुमारी मैक्लिऑड ने उसे अपनी डण्डी देकर और स्वयं घोड़े पर सवार होकर लौटी है। उस रात्रि में उससे मेरी भेंट नहीं हुई। दूसरे दिन जब मैं उसके लिए डण्डी की व्यवस्था कर रहा था, तब पता लगा कि वह पैदल ही चला गया है। तब से उसका और कोई समाचार नहीं मिला है। दो-एक जगह 'तार' दे चुका हूँ, किन्तु कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ है। सम्भवतः किसी गाँव में वह ठहरा होगा। यह अच्छी बात नहीं है ! ऐसे लोग केवल परेशानी ही बढ़ाते हैं। योगेन-माँ के लिए डण्डी

की व्यवस्था रहेगी, किन्तु और लोगों को पैदल चलना होगा ।

मेरा स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा बहुत कुछ अच्छा है । किन्तु डिस्पेप्सिया (बदहजमी) अभी दूर नहीं हुआ है एवं नींद न आने की शिकायत भी दिखाई देने लगी है । यदि डिस्पेप्सिया की कोई लाभप्रद आयुर्वेदिक दवा तुम भेज सको तो अच्छा है ।

वहाँ पर इस समय जो दो-एक 'केस' (रोग का आक्रमण) हो रहे हैं, उनकी उचित व्यवस्था के लिए सरकारी प्लेग-अस्पताल में पर्याप्त स्थान है और प्रति मुहल्ले में अस्पताल खोलने की चर्चा चल रही है । इन बातों की ओर ध्यान रखकर जैसा उचित समझो व्यवस्था करना । किन्तु बागबाजार में कौन क्या कह रहा है, इस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, उसे जनता का मत नहीं मान बैठना ।...जरूरत के समय अभाव नहीं होना चाहिए, साथ ही धन का अपव्यय न हो—यह ख्याल रखकर कार्य करना । बहुत सोच-समझकर रघुवीर के नाम से रामलाल के लिए इस समय कोई जगह खरीद देना । परमाराध्या माताजी एवं उनके बाद रामलाल, फिर शिबू उनका उत्तराधिकारी सेवक बनेगा, अथवा तुम जैसा उचित समझो वैसी व्यवस्था करना । यदि इस समय मकान का कार्य प्रारम्भ करना तुम्हारी राय में ठीक प्रतीत हो तो शुरू कर देना, क्योंकि नये बने हुए मकान में नमी होने के कारण एक-दो माह तक न रहना ही उचित है ।...दीवाल का कार्य पीछे होता रहेगा । पत्रिका के लिए अर्थ-संग्रह की चेष्टा हो रही है, १२००) पत्रिका के लिए जो मैंने भेजे हैं, उनको उसी कार्य के लिए रख देना ।

यहाँ पर और सब लोग सकुशल हैं। कल सदानन्द के पैर में मोच आ गयी। उसका कहना है कि शाम तक यह ठीक हो जाएगी। इस बार अल्मोड़ा की जलवायु अत्यन्त सुन्दर है। साथ ही सेवियर ने जो बँगला लिया है, अल्मोड़ा में उसे उत्कृष्ट माना जाता है। दूसरी ओर चक्रवर्ती के साथ एनी बेसेण्ट एक छोटे बँगले में है। चक्रवर्ती इस समय गगन (गाजीपुर) का जमाई है। मैं एक दिन मिलने गया था। एनी बेसेण्ट ने मुझसे अत्यन्त विनम्रता के साथ कहा कि मेरे सम्प्रदाय के साथ उनके सम्प्रदाय की संसार भर में सर्वत्र प्रीति बनी रहनी चाहिए। आज चाय पीने के लिए बेसेण्ट की यहाँ आने की बात है। हमारे साथ की महिलाएँ निकट ही एक दूसरे छोटे बँगले में हैं और वे कुशलपूर्वक हैं। केवल आज कुमारी मैक्लिऑड कुछ अस्वस्थ हो गयी है। हैरि सेवियर दिनोंदिन साधु बनता जा रहा है।...तुम हरिभाई का नमस्कार तथा सदानन्द, अजय एवं सुरेन्द्र का प्रणाम जानना। मेरा प्यार ग्रहण करना तथा सबसे कहना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—सुशील से मेरा प्यार कहना तथा कन्हाई इत्यादि सभी को मेरा प्यार। वि०

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

सत्रहवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के वरिष्ठ महा-उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में, और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, कांकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।--स०)।

ज्ञानी की अवस्था और श्रीरामकृष्ण की उपमा

विजयकृष्ण गोस्वामी के साथ ठाकुर की अविराम भगवच्चर्चा चल रही है। विजयकृष्ण ठाकुर से प्रश्न करते हैं—मन के सप्तम भूमि में पहुँचने पर जब मनुष्य को ब्रह्म-ज्ञान होता है, तब वह क्या देखता है? इस प्रश्न के उत्तर में ठाकुर कहते हैं—वहाँ जाकर मन का नाश हो जाता है, अतः वहाँ की खबर देनेवाला कोई रह नहीं जाता। उसकी अवस्था उस नमक के पुतले के समान हो जाती है, जो समुद्र नापने गया। नमक का पुतला समुद्र नापने जाकर गल गया, पुतला रहा नहीं। इसी प्रकार जो व्यक्ति ब्रह्म को पा लेता है, उसका व्यक्तित्व और बचा नहीं रहता। उपनिषद् में एक दृष्टान्त आता है —

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

—शुद्ध जलराशि में जब एक शुद्ध जलबिन्दु टपकता है, तो वह शुद्ध जलबिन्दु भी उस जलराशि के समान ही हो जाता है; 'तादृगेव भवति'—ठीक उसी प्रकार हो जाता है। जो ज्ञानी है, मुनि है, मननशील साधक है, उसकी आत्मा की अवस्था भी इसी प्रकार होती है। उसका व्यक्तित्व निश्चिह्न हो जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या इसमें उसका लोप हो जाता है? इसका उत्तर यह है कि इसमें उसका लोप नहीं होता, केवल उसके चारों ओर जो घेरा है, जिस दायरे को बनाकर उसने स्वयं को अन्य वस्तु से पृथक् कर रखा था, उस घेरे का, उस दायरे का नाश हो जाता है। अर्थात् जो अब तक क्षुद्र बिन्दु था, वह अब बिन्दुरूप नहीं रहता प्रत्युत सिन्धुरूप हो जाता है। बिन्दु क रूप में उसकी जो क्षुद्रता थी, केवल उसका नाश होता है और वह असीम हो जाता है। ठाकुर ने एक और दृष्टान्त दिया है—जलराशि में यदि एक लाठी रखी जाय तो ऐसा प्रतीत होता है मानो जल के दो भाग हो गये, पर वास्तव में जल जैसा था वैसा ही रहता है, केवल लाठी के रहने से दो भाग के समान दिखाई देते हैं। उसी प्रकार 'मैं'-बुद्धि के रहने से ही ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा व्यक्तित्व अलग हो गया। अब उस 'अहं-लाठी' को उठा लो तो वही एक जल रह जाएगा। मैं को हटा लो तो 'मैं एक अलग' और 'वह एक अलग' ऐसा विभाग नहीं रह जायगा। जसे लाठी के रखन स जल का जो विभाजन होता है, वह सत्य नहीं है, उसी प्रकार यह 'मैं'-रूप वस्तु भी सत्ता को यथार्थ म पृथक् नहीं करती; जगत् के समस्त तत्त्व को विषय-विषयी के रूप में, दृश्य-द्रष्टा के रूप में अलग नहीं करती। पर हाँ, जल के

विभाजन के समान ऐसा लगता है कि 'मैं' और 'मेरा'—द्रष्टा और दृश्य दो पृथक् वस्तु हैं, लेकिन वास्तव में भिन्न वस्तु हैं नहीं। इसलिए ठाकुर कहते हैं, "अहं ही यह लाठी है, लाठी उठा लो, वही एक जल बना रहेगा।"

अब प्रश्न यह है कि यदि यह 'अहं' ही समस्त विनाश का मूल है, तो फिर जिस मार्ग में चलकर उस 'अहं' का नाश हो वही अच्छा है। भक्तियोग में यदि 'अहं' बना रहता है, तो ज्ञान का मार्ग ही अच्छा है, जिससे अज्ञान दूर होता है और 'अहं' का नाश होता है। विजयकृष्ण गोस्वामी ठाकुर से यही प्रश्न करते हैं। उत्तर में ठाकुर कहते हैं कि ज्ञानयोग के द्वारा दो-एक लोगों का 'अहं' अवश्य जाता है, लेकिन शेष दूसरों का प्रायः नहीं जाता। हजार बार विचार करो, 'अहं' घूम-फिरकर आ ही जाता है। ठाकुर कहते हैं, यह पीपल के झाड़ को काटने के समान है। "आज झाड़ को काट दो, कल सुबह देखोगे, फिर से कोपलें फूट निकली हैं।"

हम विचार करते हैं—यह जगत् मिथ्या है, मैं भी इस जगत् के अन्तर्गत हूँ, यह 'मैं-मेरा' अहंकार—यह भी उस मिथ्या का ही कार्य है, जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है, अतः हमें यह जो बोध होता है कि यह सत्य है, वह हमारी भ्रान्त धारणा के कारण होता है—इस प्रकार हम मन को समझाते हैं। लेकिन हम हजार विचार करें, किसी भी प्रकार यह 'अहं' नहीं जाता। बड़े बड़े पण्डितों और दार्शनिकों के पाण्डित्य और दार्शनिक विचारों के बीच भी वह 'अहं' अपनी चमक दिखाता रहता है। चेष्टा करने से भी अहंकार नहीं जाता। ठाकुर कहते थे कि दैवयोग से किसी का जा भी सकता है,

लेकिन जनसाधारण के लिए इस प्रकार 'अहं' से निवृत्त होना बड़ा कठिन है। इसलिए वे कहते हैं—"यदि यह 'मैं' जाने का नहीं तो रहे दुष्ट 'दास मैं' बनकर! . . .मैं दास हूँ, मैं भक्त हूँ—इस प्रकार के 'मैं' में दोष नहीं है।"

भक्त का 'दास मैं'

यह 'भक्त मैं', 'दास मैं' मनुष्य को संसार में नहीं बाँधता। अहंकार को दोषपूर्ण क्यों मानते हैं? इसलिए कि वह बन्धन में डालता है। लेकिन जो अहंकार बन्धन में नहीं डालता, उसमें दोष क्या है? इसलिए 'मैं दास' 'मैं भक्त' 'मैं उनकी सन्तान'—ऐसे 'मैं' में कोई दोष नहीं है। यह बात क्यों कह रहे हैं? इसलिए कि ज्ञानयोग के द्वारा 'अहं' को सम्पूर्ण रूप से निर्मूल किया जाना भले ही सत्य है, पर ज्ञानयोग का अनुशीलन करते हुए इतनी दूर तक अग्रसर होना भला कितने लोगों के लिए सम्भव है? देहात्म-बुद्धि दूर हुए बिना इस ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हुआ जाता। देहात्म-बुद्धि माने इस देह को ही 'मैं' समझना। शिशु से लेकर वृद्ध तक, मूर्ख से लेकर पण्डित तक सभी इस देह को ही 'मैं' समझते हैं। इसलिए ठाकुर कह रहे हैं कि चाहे जितना कहूँ कि काँटा और उसकी चुभन नहीं है, पर जब वही काँटा हाथ में चुभता है, तब 'उफ्' कह उठता हूँ। साधारण मनुष्य की तो बात क्या, तोतापुरी के समान उच्च अधिकारी का मन भी देह के लिए नीचे उतर आया था। इस देहात्मबुद्धि का प्रभाव इतनी दूर तक फैला है। अब प्रश्न यह है कि जब ज्ञानी की भी यही दशा है, तब साधारण मनुष्य क्या करे? उसके लिए ऐसा कोई उपाय करना उचित है, जिससे वह इस 'बदजात मैं'—अर्थात् जो 'मैं' बन्धन की सृष्टि करता

है उस 'मैं'—के हाथ से मुक्त हो 'शुद्ध मैं' हो सके। इस 'शुद्ध मैं' के रहने से कोई दोष नहीं है, अतः उसका नाश करने के लिए किसी उत्कट साधना की आवश्यकता नहीं है। यदि हो भी, तो वह हमारी क्षमता से बाहर है। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "कलियुग में प्राण अन्नगत हैं, देहात्म-बुद्धि, अहं-बुद्धि जाती नहीं। अतएव कलियुग के लिए भक्तियोग है।" कलियुग में मनुष्य का मन देह में जकड़ा रहता है।

कलि में भक्तियोग

उपनिषदों के युग की हम 'सत्ययुग' के रूप में कल्पना करते हैं। पर उस समय भी उपनिषद् ने कहा था— "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन्"—इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर मानो भगवान् ने जीव का महाअनिष्ट किया है। तभी तो वह केवल बाहरी वस्तुओं को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता। यह उसी उपनिषद् युग की बात है। अतः यह सब काल में, सभी मनुष्यों के लिए सनातन सत्य है। कलियुग का प्रभाव क्या केवल वर्तमान में ही रहा है? वह तो चिरकाल से रहा है; क्योंकि जिस 'देहात्म-बुद्धि' को कलियुग का वैशिष्ट्य कहा गया है, उसके प्रभाव से मनुष्य सत्य, त्रेता, द्वापर, किसी भी युग में मुक्त नहीं है। इस युग में ही हम फिर से ऐसे मनुष्य देखेंगे, जिन्हें हम सत्य, त्रेता अथवा द्वापर के मनुष्य कह सकते हैं। फिर सत्ययुग में भी कलियुग के समान आसुरी प्रकृति के लोग देखे जाते हैं। अतः युग का ठीक इस प्रकार विभाजन नहीं किया जा सकता। हम कलियुग को चाहे जितना दोष दें, 'भागवत' में एक स्थान पर आता है—"कृतादिषु

महाराज कलाविच्छन्ति संभुतिम्"—कृत माने सत्य-युग । तो सत्ययुग के लोग भी इस कलियुग में जन्म लेने की इच्छा करते हैं । वे सोचते हैं कि यदि हम कलियुग में जन्म लेते तो इतनी कठोर साधना की आवश्यकता नहीं होती, अनायास ही भक्तिमार्ग का अवलम्बन कर सिद्धि पा लेते । तात्पर्य यह है कि सब युगों में मनुष्यों के बीच ऊँच-नीच मनोवृत्ति रहती है । फिर इन सबके बीच रहकर भी उद्धार पाने का उपाय है । और साधारण मनुष्य के लिए वह उपाय है भक्तियोग । चाहे कोई भी युग क्यों न हो, यदि सहजलभ्य भक्तियोग का अवलम्बन कर आगे बढ़ा जाय तो फिर ज्ञानयोग की क्या आवश्य-कता है, इतनी कठोरता अथवा कर्मयोग के इतने आडम्बर का क्या प्रयोजन है, जहाँ हजार वर्ष तक एक एक यज्ञ करना पड़ता है ? पुराण आदि में आता है कि अमुक व्यक्ति ने दस हजार वर्ष तक तपस्या की । हम लोग एक सौ वर्ष भी तो जीवित रहते नहीं, फिर उन सबका विचार करने से हमें क्या लाभ ?

पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि ज्ञानयोग कोई उपाय नहीं है । ज्ञानयोग उपाय तो है, लेकिन उस उपाय के अनुसरण की क्षमता हममें से कितने लोगों में है ? मुट्ठी भर लोगों में वह क्षमता भले ही हो, पर शेष सब लोगों के लिए तो वह उपाय पहुँच से बाहर है । अतएव हमारे लिए तो वही उपाय श्रेष्ठ है, जो हमें अनुकूल हो, अथवा हमारी सामर्थ्य के भीतर हो । इसलिए ऐसा कहना नहीं बनता कि यह योग श्रेष्ठ है और वह निकृष्ट । जिसके लिए जो उपाय उपयोगी है, उसके लिए वही श्रेष्ठ है । बाजार में अनेक प्रकार की

असरदार और कीमती-कीमती दवाइयाँ हैं, पर उनमें से किसी एक को खा लेने से ही क्या रोग दूर हो जाता है ? रोग को दूर करने के लिए हमारे लिए जो औषध उपयोगी है, उसे ग्रहण करना होगा ।

भागवत : ज्ञान, भक्ति और कर्म

भागवत में तीन योगों की बात कही गयी है—भक्ति-योग, ज्ञानयोग और कर्मयोग । जिनका विषयों के प्रति अत्यन्त वैराग्य है, जिनमें कोई कामना नहीं है, जो समस्त कर्मों का त्याग कर चुके हैं—निःसन्देह यहाँ पर 'कर्म' कहने का तात्पर्य है सकाम कर्म; 'यह कर्म करके यह फल प्राप्त करूँगा'—इसे कहते हैं 'सकाम कर्म', तो जिन्होंने इस सकाम कर्म का त्याग किया है, उन्हीं लोगों के लिए ज्ञानयोग का विधान है । और जिन लोगों के मन में कामना-वासना प्रबल है, उनके लिए है कर्मयोग । कामना प्रबल होने के कारण वे पहले कामनायुक्त होकर शास्त्रीय कर्म करेंगे । इस प्रकार करते करते वे धीरे धीरे उच्चतर अवस्था में पहुँचेंगे । इसलिए सकाम कर्म से ही उनकी साधना शुरू होगी । और जो लोग न तो अतिशय विषय-विरागी हैं और न अतिशय भोगपरायण, अर्थात् जिनमें ऐसी कोई तीव्र कामना नहीं है, जो उन्हें भगवान् की ओर बढ़ने न देती हो, फिर जिनमें इतना तीव्र वैराग्य भी नहीं है कि मन विषय की ओर एकदम जाए ही नहीं—उनके लिए है भक्तियोग । एक के लिए जो पथ्य है, दूसरे के लिए वह विषवत् त्याज्य है । इसीलिए भक्तियोगी ज्ञानयोग से डरते हैं और ज्ञानयोगी भक्तियोग की उपेक्षा करते हैं । फिर भक्तियोगी और ज्ञानयोगी दोनों ही कर्मयोगी से घृणा करते हैं । लेकिन ये सभी मनुष्य के लिए प्रगति के पथ

हैं, अत: कोई भी उपेक्षा या घृणा की वस्तु नहीं है। जो जहाँ पर है, उसे वहीं से एक एक कदम आगे बढ़ना होगा। एक छलाँग लगाकर क्या छत पर चढ़ा जा सकता है? एक एक करके सीढ़ी पर से चढ़ना होगा, तब कहीं छत पर चढ़ना सम्भव होगा। अब यदि मैं उन सीढ़ियों को घृणित समझकर नापसन्द करूँ, क्योंकि वे सब नीचे की ओर से आती हैं, तब तो किसी भी दिन मेरा ऊपर चढ़ना सम्भव नहीं होगा। व्याकुल होकर निष्ठापूर्वक हमें अपने अपने रास्ते से आगे बढ़ना होगा। जब तक हममें स्वयं अपने रास्ते पर चलने की तीव्र व्याकुलता नहीं रहती तभी तक हम दूसरों के मार्ग की आलोचना करके उनको तुच्छ समझते हैं। तीव्र व्याकुलता लेकर, एकनिष्ठ होकर जो अपने रास्ते पर बढ़ चला है, उसके लिए क्या अन्य लोगों के रास्ते पर दृष्टि डालना और उनकी आलोचना करना सम्भव है?

इसलिए अपने हृदय को टटोलकर मुझे देखना होगा कि मैं किस पथ का अधिकारी हूँ। मैं यदि तीव्र वैराग्यवान् हूँ, तब तो ज्ञानयोग की ओर दृष्टि डाल सकता हूँ, और यदि वह नहीं हूँ तो मेरे लिए ज्ञानयोग के मार्ग का अनुसरण करने की चेष्टा एक ऐसी विपत्ति को जन्म देगी जो मुझे साधनापथ पर आगे नहीं बढ़ने देगी।

इसके बाद ठाकुर कह रहे हैं, "भक्त लोग जो 'मैं भक्त', 'मैं दास' ऐसा 'मैं' रख लेते हैं, उस 'मैं' में दोष नहीं है, क्योंकि वह 'मैं' मनुष्य को ऐसे किसी बन्धन में नहीं डालता जो सहज में ही न छूट जाय। ज्ञानी अपने अहं को मिथ्या कहकर उसका परिहार करता है और भक्त भगवान् का चिन्तन करते करते ऐसा हो जाता है कि तब

उसकी क्षुद्रता, उसकी अपूर्णता निर्मूल हो जाती है ।

भक्त का ज्ञानलाभ और श्रीरामकृष्ण की उपमा

इसके बाद विजयकृष्ण गोस्वामी प्रश्न करते हैं—इस 'भक्त मैं' या 'दास मैं' के काम-क्रोधादि किस प्रकार रहते हैं ? उत्तर में ठाकुर कहते हैं—इनमें काम-क्रोधादि का निशान भर रहता है, वे उनको विचलित नहीं कर पाते। रस्सी यदि जल जाय तो वह रस्सी के समान दिखाई तो देती है, पर तब उससे रस्सी का कोई काम नहीं बनता, उससे बाँधा नहीं जा सकता । अब पहले तो इस 'दास मैं' या 'भक्त मैं' के भाव का अपने में आरोपण करना होता है । भगवान् को तो जाना है नहीं, अतः कल्पना करके ऐसा भाव जगाने की कोशिश करनी पड़ती है कि मैं 'उनका दास' हूँ, 'उनका भक्त' हूँ । इस प्रकार सोचते सोचते जब इस भाव की सिद्धि होती है, तब भक्त भगवान् का साक्षात्कार करता है । भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं । वे चाहें तो भक्त को ब्रह्मज्ञान भी दे सकते हैं । इसलिए भक्तों की इच्छा हो तो भगवान् से ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं । अतः ऐसी बात नहीं कि ब्रह्मज्ञान के ऊपर केवल ज्ञानयोगियों का ही एकाधिकार हो। भक्तियोग के द्वारा भी ब्रह्मज्ञान होता है । ठाकुर दृष्टान्त देते हुए कहते हैं--जैसे घर का पुराना नौकर, वह मालिक से हरदम दूर दूर रहता है, लेकिन मालिक यदि किसी दिन स्वेच्छा से उसे खींचकर अपने पास बिठा ले , तब क्या वह फिर दूर बैठ सकता है ? उसे मालिक के पास ही बैठना पड़ेगा । पर बात यह है कि साधारण भक्त ब्रह्मज्ञान नहीं चाहता, जैसा कि रामप्रसाद कहते हैं—"चीनी होते चाइ ना मा, चीनी खेते भालोवासि" (शक्कर होना नहीं चाहता, माँ, मुझे

शक्कर खाना अच्छा लगता है) । वह स्वयं को भगवान् से पृथक् रखकर, उनका उपास्यरूप में अथवा शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर—इनमें से किसी एक भाव में आस्वादन करना चाहता है । यह हुई भक्त की अभिरुचि । जो सर्वशक्तिमान् हैं, जो सब कुछ दे सकते हैं, वे क्या भक्त को ब्रह्मज्ञान नहीं दे सकेंगे ? लेकिन भक्त वह नहीं चाहता । वह तो अनन्तकाल तक उनका आस्वादन करना चाहता है—यह उसकी प्रवृत्ति है । इसमें कोई दोष नहीं होता; दोष तब होता है, जब भक्त सोचता है कि जो ज्ञानी है, वह एकदम नीरस है, शुष्क है, क्योंकि वह यह नहीं समझ पाता कि वह स्वयं जिस रस का आस्वादन कर रहा है, दूसरे भी उसी का आस्वादन अन्य प्रकार से कर सकते हैं । यह एकांगी भाव ज्ञानियों का भी होता है और भक्तों का भी । यहाँ तक कि तोतापुरी के समान ज्ञानी ने भी ठाकुर के ,ताली बजाकर भगवन्नाम करने को "क्यों रोटी ठोंकता है ?" कहकर उपहास किया था ।

ठाकुर की शिक्षा

इसीलिए ठाकुर की यह विशेष शिक्षा है कि अपने अपने भाव के प्रति एकनिष्ठ रहो, साथ ही दूसरों के भाव को श्रद्धा की दृष्टि से देखो, परस्पर एक दूसरे के प्रति श्रद्धा रखो, दूसरों के भाव के प्रति सहानुभूतिसम्पन्न रहो, लेकिन अपने भाव में दृढ़निष्ठा रखकर चलो । यह विशेष शिक्षा ही ठाकुर की विशिष्टता है । यह भाव आज के युग के लिए विशेष उपयोगी है, और यहीं पर श्रीरामकृष्ण का युगावतारत्व है ।

○

मानस-रोग (७/२)

(पण्डित रामकिंकर उपाध्याय)

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन किये थे। प्रस्तुत लेख उनके सातवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनु-लेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

पवनकुमार पर आक्रमण करने के लिए रावण अक्षयकुमार को सेना लेकर भेजता है। तुलसीदासजी से किसी ने पूछा—महाराज, अक्षयकुमार कितनी सेना लेकर चला? उत्तर में गोस्वामीजी ने कहा—

चला संग लै सुभट अपारा (५।१७।७)

—भई, यह तो लोभ जा रहा है, अतः इसके सैनिक भी अपार हैं। और हनुमान्‌जी कौन हैं? वे नितान्त निष्काम हैं। गोस्वामीजी ने उनके सन्दर्भ में केवल 'वैराग्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि 'विनयपत्रिका' में कहा—

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय,
विषम वन भवनमिव धूमकेतू ।५८।८

—वे प्रबल वैराग्य हैं। परम विरागी वह है, जो सारी सिद्धियों और तीनों गुणों को तिनके के समान त्याग देता है—

कहिअ तात सो परम बिरागी।
तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ।। ३।१४।८

यह हनुमान्‌जी की निर्लोभिता का ही प्रमाण है कि उन्होंने स्वर्णमयी लंका को जलाकर नष्ट कर दिया।

उन्हें तो यह ज्ञात ही था कि लंका पर विजय होनेवाली है, अतः उनके मन में यह बात आनी चाहिए थी कि जब अन्त में लंका के समूल सोने पर हमीं लोगों का अधिकार होनेवाला है, तो इसको बचाकर रख लेना चाहिए। पर हनुमान्जी उसे जलाकर नष्ट कर देने में रंच मात्र संकुचित नहीं होते। हनुमान्जी के प्रबल वैराग्य का यही स्वरूप है। इसीलिए उन्हें लोभ के प्रतीक अक्षयकुमार को उसके अपार सैनिकों सहित मारने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगा। गोस्वामीजी लिखते हैं—

आवत देखि बिपट गहि तर्जा (५।१७।८)

—हनुमान्जी ने तुरन्त रावण की ही वाटिका के एक वृक्ष को उठा लिया और ललकारते हुए उससे अक्षय-कुमार को मार डाला। वह तो मोह की वाटिका थी न! हनुमान्जी का तात्पर्य यह है कि लोभी अपने ही मोह से विनष्ट हो जाता है, उसके नाश के लिए बाहर के अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा नहीं है। साथ ही उन्होंने रावण को मानो यह व्यंग्यात्मक संकेत किया कि तुम्हारे अक्षय को मैंने नहीं, तुम्हारे अशोक ने मार डाला! अर्थात् लोभ के अक्षय का मोह के अशोक ने नाश कर दिया। रावण को उल्टे गुणवाला नाम रखने का बड़ा शौक था। वह स्वयं मूर्तिमान् मोह है, और मोह से सर्वदा शोक ही होते देखा गया है. पर उसने अपनी वाटिका का—मोह की वाटिका का—नाम रख दिया अशोक। हनुमान्जी यह बताना चाहते थे कि न तो तुम्हारा अक्षय सही है, न तुम्हारा यह अशोक। मोह के ऐसे अक्षय और अशोक का मिट जाना ही श्रेयस्कर है। हनुमानजी की विजय की सूचना रावण के पास पहुँची। रावण को सबसे अधिक भरोसा मेघनाद

पर था। वैसे कुम्भकर्ण भी बड़ा शक्तिशाली था। अक्षय-कुमार तथा अन्य योद्धा भी बड़े बली थे, पर रावण के मन में यदि किसी के बल के प्रति सबसे अधिक विश्वास था, तो वह था मेघनाद। गोस्वामीजी ने लिखा है कि मेघनाद इतना शक्तिशाली था कि रावण के जीवन में तो पराजय के क्षण आते हैं, पर वह सबको पराजित कर देता है। रावण बालि के सामने हार गया, सहस्रार्जुन से भी हार गया, फिर पाताललोक में भी हार जाता है, पर मात्र मेघनाद एक ऐसा पराक्रमी योद्धा था, जो जीवन में कभी पराजित नहीं होता। ऐसा प्रसंग आता है कि एक बार रावण को इन्द्र ने हरा दिया। जब मेघनाद को यह पता चला तो वह इन्द्र पर आक्रमण करता है और उसे नागपाश में बाँध लेता है। यह बड़ी सांकेतिक भाषा है। इन्द्र मेघनाद को क्यों नहीं जीत सकता और रावण को कैसे जीत लेता है? इसका रहस्य यह है कि इन्द्र मुनियों का सत्संग करता है, और सत्संग करनेवाला व्यक्ति कभी कभी मोह को पराजित कर दे सकता है। इसीलिए इन्द्र अवसर आने पर रावण को पराजित भी कर देता है, ऐसा हम पुराणों में पढ़ते हैं। पर इन्द्र भले ही रावण को परास्त कर देता हो तथापि है वह महाकामी, महा-भोगी। और भोगी व्यक्ति काम को जीत ले यह सम्भव नहीं। इसीलिए गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि इन्द्र को मेघनाद हराकर बाँध लेता है। इस बाँध लेने का भी एक सांकेतिक अर्थ है। मेघनाद है काम, और काम की कला व्यक्ति को बाँध लेती है। काम की प्रवृत्ति ही है बाँधना। फिर बाँधने के लिए भी रामायण में बार बार संकेत आता है कि मेघनाद नागपाश के द्वारा बाँधता है। इन्द्र को

उसने नागपाश के द्वारा बाँधा। हनुमान्‌जी को नागपाश के द्वारा बाँधने की चेष्टा की। भगवान् राम और लक्ष्मण को भी नागपाश से बाँधने का प्रयत्न किया। यह 'नाग' शब्द काम के प्रतीक से जुड़ा हुआ है। तो, काम मनुष्य को बाँधकर उसका सर्वनाश कर देता है।

किसी ने आपत्ति करते हुए गोस्वामीजी से कहा कि जब विषय के सेवन में हमें प्रत्यक्ष रूप से मिठास की अनुभूति होती है, तब सारे शास्त्र मिलकर भी यदि विषय की निन्दा करें और विषय को कड़वा कहें तो उससे प्रत्यक्ष अनुभूति कट नहीं सकती, इसलिए आप लोगों का काम की निन्दा करना व्यर्थ है। इसका उत्तर गोस्वामीजी ने बड़ी साहित्यिक भाषा में 'विनयपत्रिका' में दिया। उन्होंने कहा कि वस्तु का मीठी लगना वस्तु के मीठी होने का प्रमाण नहीं है। जैसे गाँव में अँधेरे में किसी को कोई जन्तु काट लेता है। जब तक उसे यह पता नहीं चलता कि साँप ने काटा है, तब तक वह उतनी चिन्ता नहीं करता, पर अगर उसे साँप ने काटा हो तब तो उसके लिए मृत्यु की आशंका हो सकती है। गाँववाले यह पता लगाने के लिए कि साँप ने काटा है या नहीं, उसे नीम की कड़वी पत्ती खिलाते हैं। यदि नीम की पत्ती मीठी लगे तो वे कह देते हैं कि साँप ने जरूर काटा है। तो, गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि आपको यह विषयरूप नीम की पत्ती मीठी लग रही हो तो समझ लीजिए कि आपको काम के साँप ने काटा है, अन्यथा यह विषयरूप नीम की पत्ती आपको कभी मीठी न लगती—

काम भुजंग डसत जब जाही।
बिषय निम्ब कटु लगत न ताही॥

तो, मेघनाद का प्रिय अस्त्र है नाग, और उसका प्रिय प्रयोग है बाँध लेना। मेघनाद मारने में नहीं, बाँधने में विश्वास करता है और इस प्रकार अपने पिता की आज्ञा का पालन करता है—

तिन्हहि जीति रन आनेसु बाँधी।
उठि सुत पितु अनुसासन काँधी ।।१।१८१।३

उसने इन्द्र को भी बाँधकर अपने पिता के चरणों में डाल दिया। तो, रावण जब हनुमान्‌जी का समाचार सुनता है और यह भी कि उसके सारे योद्धा पराजित हो गये, तब उसका ध्यान अपने पुत्र मेघनाद पर जाता है। इसका अर्थ यह कि रावण को भी विश्वास है कि लोग बड़े बड़े दुर्गुणों को जीत ले सकते हैं, पर काम के आकर्षण को नहीं जीत पाते। ऐसे लोग आपको मिलेंगे जो लोभ की ओर आकृष्ट नहीं होते और अक्षयकुमार को परास्त कर देते हैं, पर वे भी अपने को काम के बन्धन से, उसके आकर्षण से मुक्त नहीं कर पाते। इसीलिए रावण मेघनाद को भेजता है। तब मेघनाद का हनुमान्‌जी से युद्ध होता है। गोस्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि हनुमान्‌जी के चरित्र में कहीं पर काम की लेश मात्र भी स्वीकृति नहीं है, तथापि आगे चलकर रावण को कुछ उपदेश देने के लिए और साथ ही ब्रह्मा की सृष्टि की मर्यादा रखने के लिए वे अपने आप को कुछ क्षणों के लिए नागपाश में बँधा हुआ दिखला देते हैं। मेघनाद उस समय तो प्रसन्न हो जाता है, पर उसके बाद उसे पता चल जाता है कि हनुमान्‌जी वस्तुतः नागपाश से बाँधे नहीं जा सकते, क्योंकि नागपाश से बाँधकर उन्हें ले जाना मेघनाद के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। फलस्वरूप हम 'रामचरित-

मानस' में पढ़ते हैं कि मेघनाद और सबको तो लड़ने की चुनौती देता रहता है—बन्दरों को, लक्ष्मणजी को,-यहाँ तक कि भगवान् राम को भी, पर हनुमान्जी के सामने आने में हरदम कतराता रहता है। हम पढ़ते हैं—

बार बार पचार हनुमाना।
निकट न आव मरमु सो जाना ॥ ६।५०।४

—जब जब हनुमान्जी उससे कहते कि हमारा-तुम्हारा युद्ध हो जाय, वह निकट नहीं आता था, कहता था—तुमसे नहीं लड़ूँगा। किसी ने पूछा—वह ऐसा क्यों करता था? गोस्वामीजी कहते हैं कि उसने हनुमान्जी का मर्म जान लिया था। क्या मतलब? यह कि वह श्रीराम से, लक्ष्मणजी से, बन्दरों से, सुग्रीव से लड़ने का साहस इसलिए करता था कि वे सब गृहस्थ थे। किसी गृहस्थ को सामने देखकर काम यही सोचता है कि गृहस्थ कैसा भी हो उसे काम के सामने हारना ही पड़ेगा। पर हनुमान्जी एक महान् ब्रह्मचारी हैं, और ब्रह्मचारी के सामने जाने में काम भयभीत होता है, संत्रस्त होता है। यह इस प्रसंग का आध्यात्मिक तात्पर्य है। पर उसका एक दूसरा व्यंग्यात्मक तात्पर्य भी है। वह यह कि मेघनाद को लगा कि इस बन्दर से लड़ना सबसे महँगा सौदा है; क्योंकि जब वह अपने पिता की आज्ञा से अशोक-वाटिका में लड़ने के लिए जाता है तो सबसे पहले हनुमान्जी उसका रथ ही नष्ट कर देते हैं। यह हनुमान्जी की लड़ने की कला है। मेघनाद को भेजते समय रावण आदेश देता है—

मारेसि जनि सुत बाँधेसु ताही।
देखिअ कपिहि कहाँ कर आही ॥ ५।१८।२

—पुत्र, रमाना नहीं, उसे बाँध लाना; मैं भी तो देखूँ कौन आ गया, जिसने इतने बड़े बड़े विचित्र कार्य कर डाले ! गोस्वामीजी कहते हैं—पिता का आदेश शिरोधार्य कर—

चला इंद्रजित अतुलित जोधा (५।१८।३) ।

वे उसका परिचय देने में संकोच नहीं करते और उसके लिए ऐसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं, जिनका प्रयोग वे भगवान् राम, श्री लक्ष्मण तथा हनुमान्‌जी जैसे पात्रों के सन्दर्भ में भी करते हैं। उनकी दृष्टि में मेघनाद ऐसा योद्धा है, जो अतुलित है—जो आज तक तौला नहीं गया। काम को तौलने की सामर्थ्य किसी में दिखाई नहीं दे रही है। ऐसे ये दो अतुलित योद्धा आमने-सामने हो गये। एक वैराग्य-अतुलित और दूसरा, काम-अतुलित। एक ओर हनुमान्‌जी और दूसरी ओर मेघनाद। मेघनाद जब अपने भाई का निधन सुनता है तो क्रोधित हो उठता है—

बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा (५।१८।३)

गोस्वामीजी लिखते हैं—

कपि देखा दारुन भट आवा ।
कटकटाइ गर्जा अरु धावा ।।
अति बिसाल तरु एक उपारा ।
बिरथ कीन्ह लंकेस कुमारा ।। ५।१८।४-५

—हनुमान्‌जी ने देखा कि अबकी बार एक भयानक योद्धा आया है। तब वे कटकटाकर गर्जे और दौड़े। उन्होंने एक बहुत बड़ा वृक्ष उखाड़ लिया और जिस रथ पर बैठकर मेघनाद आया था उसी को नष्ट कर दिया। इसका अर्थ यह कि यदि मेघनाद रथ पर रहेगा तो बड़ी तीव्र गति से चाहे जिधर चला जाएगा, पर यदि पैदल चलेगा तो धीरे-धीरे जाएगा। कामवासना मनोरथ पर बैठकर ही आक्रमण

करती है । तो हनुमान्‌जी ने मानो मनोरथ को तोड़कर मन को गतिशून्य बना दिया । मेघनाद हनुमान्‌जी की इस कला को देख चकित हो गया ।

मेघनाद के जीवन में रथ का बड़ा महत्त्व है । आगे चलकर भी वर्णन आता है कि—

मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास (६।७२)

—मेघनाद के पास माया का रथ है । अब शरीरधारी के आक्रमण से तो एक बार लोहा लिया जा सकता है, पर जो अशरीरी हो, जो आकारहीन मन के रथ पर बैठकर आक्रमण करता हो, उसे जीत पाना, उसे मार पाना, मन को गतिशून्य बना देना, यह तो हनुमान्‌जी-जैसे विरले वैराग्यवानों के लिए ही सम्भव है, दूसरों के लिए नहीं । मेघनाद ने देखा कि यह बन्दर जब जीत रहा था तब तो जीत ही रहा था, पर जब वह हारता हुआ, ऊपर से नीचे गिरता हुआ दीख पड़ा, तब भी उसने—

परतिहुँ बार कटकु संघारा (५।१९।१)

—गिरते गिरते बहुत सी सेना मार डाली । तो, हनुमान्‌जी ने ऊपर रहकर भी राक्षसों को मारा और नीचे गिरते गिरते भी; होश में रहकर तो मारा ही, साथ ही बेहोश होते हुए भी । तात्पर्य यह कि मूर्छा में भी जो दुर्गुणों को पराजित करता है, उसका वैराग्य कितना प्रबल होगा ! व्यक्ति कभी कभी दिन में तो अच्छे व्यवहार कर लेता है, पर उसे स्वप्न बुरे-बुरे आते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि मन में अभी वासना शेष है । कभी कभी ऐसा होता है कि लोग मूर्छित हो जाते हैं । उन्हें होश में लाने के लिए दवा दी जाती है । बेहोशी की हालत में मुँह से कभी ऐसी गलत बात निकल जाती है, जो साधारणतया होश में रहते नहीं

निकलेगी। पर हनुमान्‌जी ऐसे हैं जिनके मुँह से मूर्छा में भी सही बात निकली। तभी तो उनकी मूर्छा की प्रशंसा भरतजी ने भी प्रभु से की। प्रभु ने उनसे कहा—भरत, तुम्हारा बाण विलक्षण है, जिसके प्रहार से हनुमान्‌जी भी मूर्छित हो गिर पड़े। भरतजी बोले—महाराज, मैं कैसे मानूँ कि वे मूर्छित होकर गिरे ? मैंने तो ऐसी विचित्र मूर्छा कभी देखी नहीं —

> परेउ मुरुछि महि लागत सायक।
> सुमिरत राम राम रघुनायक ॥ ६।५८।१

—मूर्छा में भी वे आपकी ही याद करते रहे। और जो मूर्छा में भी आपकी ही स्मृति में डूबा रहे, उसकी आपके चरणों में कितनी प्रगाढ़ आसक्ति है, यह पता चलता है। तो, हनुमान्‌जी मूर्छा में भी दुर्गुणों को पराजित कर देते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे मूर्छा में भी भगवान् से विच्छिन्न नहीं होते, भगवान् के चरणों से उनका मन एक क्षण के लिए भी पृथक् नहीं होता।

फिर, रावण के आदेशानुसार मेघनाद हनुमान्‌जी को पकड़कर तो ले गया, पर बाद में जब उसने गणित किया तो देखा कि बड़ा अनर्थ हो गया। जब तक बन्दर बाग में खुला हुआ था, तब तक बाग ही उजड़ा था, पर जब उसे बाँधकर नगर ले आया गया तो पूरा नगर ही उजड़ गया। इससे मेघनाद को लगा कि जो बँधकर भी प्रवृत्ति के लंका-दुर्ग को उजाड़कर जला दे, उसकी मूर्छा, उसका बन्धन भी स्वयं-स्वीकृत है। ऐसे व्यक्ति को न तो सच्चे अर्थों में मूर्छित किया जा सकता है और न किसी तरह से किसी बन्धन में बाँधा जा सकता है। हनुमान्‌जी दोनों स्थितियों से मुक्त हैं। इसलिए मेघनाद उनसे डरता रहता है।

जब भी हनुमान्‌जी मेघनाद को युद्ध के लिए बुलाते हैं, वह उनकी चुनौती को अस्वीकार कर देता है। अन्य लोगों से लड़ने में उसे रंचमात्र भय नहीं होता। इसके माध्यम से भगवान् राघवेन्द्र मानो एक दूसरा सत्य दिखाना चाहते हैं। वैसे तो वे यदि हनुमान्‌जी को मेघनाद के वध का आदेश दे देते तो वे वैसा कर ही डालते, पर प्रभु मेघनाद को यह दिखाना चाहते हैं कि तुमने लक्ष्मण को पहचानने में भूल कर दी। ऐसा न समझना कि लक्ष्मण गृहस्थ हैं इसलिए वे तुम पर विजय प्राप्त नहीं कर सकेंगे। प्रभु का संकेत यह है कि मेघनाद, हनुमान्‌जी के स्वरूप को तो तुम जान गये, पर लक्ष्मण को अज्ञानतावश तुमने ऐसा समझ लिया कि वे तुम्हारे वश में हैं। उन्हें मूर्छित करके तुम्हें भ्रम हो गया कि वे तुम्हारे चंगुल में फँस गये। हनुमान्‌जी की मूर्छा तुम्हें नकली लगी और लक्ष्मण की मूर्छा असली। किन्तु जान लो, अन्ततोगत्वा विजय लक्ष्मण की ही होगी। और ऐसा ही होता भी है। लक्ष्मणजी के रूप में जो प्रवृत्ति-वैराग्य है, उसके द्वारा उस मेघनाद का पूरी तरह से विनाश साधित होता है, जो असुरवृत्ति के रूप में शक्ति और शक्तिमान् को, भक्ति और भगवान् को अलग करने की दुश्चेष्टा करता है।

लेकिन यहाँ पर एक दूसरा पक्ष है, जो प्रश्न करता है कि व्यक्ति के जीवन में फिर काम का कोई सदुपयोग हो सकता है या नहीं ? इसका उत्तर हमें शंकरजी की प्रक्रिया से प्राप्त होता है। यह शंकरजी की प्रक्रिया क्या है ? जैसे वैद्य विष को जलाकर भस्म के रूप में परिणत कर उसे औषध बना लेता है, वैसे ही भगवान् शंकर काम को क्रोध की आग में जलाकर भस्म बनाकर उसे सचमुच दवा के

रूप में परिणत कर लेते हैं। काम आम के वृक्ष पर बैठकर भगवान् शंकर पर आक्रमण करता है। आम का वृक्ष काम को बड़ा प्रिय है। यहाँ एक सांकेतिक बात यह है कि काम के आक्रमण से बच पाना इसलिए कठिन है कि काम का आक्रमण आक्रमण नहीं लगता, अपितु अभिनन्दन-समारोह लगता है। कोई यदि आप पर फूल का बाण चलाए, फूलों का हार आपके गले में पहनाए तो आपको अभिनन्दन लगेगा या आक्रमण? भगवान् राम लक्ष्मणजी से कहते हैं—लक्ष्मण, काम की विचित्रता यह है कि उसके आक्रमण में मधुरता रहती है, इतनी कि व्यक्ति स्वयं होकर उसके सामने समर्पित हो जाता है। जब वे सीताजी की खोज में वन-वन भटक रहे हैं तब एक दिन लक्ष्मणजी से कहा—

देखहु तात बसंत सुहावा (३।३६।१०)

—तात, सुहावना वसन्त आ गया। इस पर लक्ष्मणजी बोले—यह प्रकृति का आना-जाना तो लगा ही रहता है। तब प्रभु ने कहा—नहीं, इस बार वसन्त कुछ नयी योजना लेकर आया है।

कहा जाता है कि काम का सेनापति है वसन्त। गोस्वामीजी आयुर्वेदशास्त्र के सिद्धान्त का काम के सिद्धान्त के साथ सुन्दर समन्वय करते हैं। मानस-रोगों के सन्दर्भ में यह वसन्त काम का साथी है। फिर शरीर की दृष्टि से देखें तो एक प्रसिद्ध श्लोक प्रचलित है कि वैद्यों के एक माता-पिता वे हैं जिनसे वे जन्म लेते हैं, और—

वैद्यानां शारदीमाता पिता च कुसुमाकर:

—वैद्यों की दूसरी माता है शरद ऋतु तथा पिता है वसन्त। संकेत यह है कि सबसे अधिक लोग या तो शरद ऋतु में

अस्वस्थ होते हैं या फिर वसन्त ऋतु में । इसलिए वैद्य लोग इन दोनों को धन्यवाद देते हैं कि आप रोगियों को हमारे पास भेजकर हमारी रक्षा करते हैं ! फिर, उसका मनोवैज्ञानिक तात्पर्य यह है कि वैसे तो गर्मी में भीषण गर्मी पड़ती है और शीत में भीषण ठण्ड, पर शरद और वसन्त, ये दोनों ऋतुएँ बड़ी सुहावनी लगती हैं । तब व्यक्ति रोगी क्यों होता है ? इसलिए कि ग्रीष्म और शीत ऋतुओं में तो व्यक्ति सावधान रहता है, पर जब सुहावनी ऋतु आती है तो असावधान हो जाता है, इसीलिए वह रोग का शिकार हो जाता है । यही स्थिति काम के सन्दर्भ में भी है । जिन दुर्गुणों को हम दुर्गुणों के रूप में पहचानते हैं, उनसे लड़ने के लिए तो हम सावधान रहते हैं, पर जिसका संस्पर्श हमें सुहावना लगता है, वह हममें ऐसी प्रतीति जगाता है कि काम आक्रमण करने कहाँ आ रहा है, वह तो हमारा स्वागत करने आया हुआ है । इसीलिए वसन्त को काम का सखा, काम का सेनापति कहा गया है । तो, भगवान् राम कहते हैं—देखो लक्ष्मण, सुहावना वसन्त अपनी सेना लेकर मुझ पर आक्रमण करने आ गया । जैसे सेना में रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सिपाही होते हैं, उसी प्रकार काम की सेना में भी ये चारों हैं । भगवान् राम लक्ष्मण से विस्तार से इसका वर्णन करते हैं । चारों ओर वसन्त ऋतु छायी हुई है । कितनी प्यारी लगती है वह । वसन्त ऋतु में किसी वाटिका में चले जाइए, पुष्प खिले रहते हैं, नये नये पत्ते आये रहते हैं, सुन्दर सुगन्ध भरी होती है । वसन्त में तो आकर्षण ही आकर्षण है, सब कुछ कितना सुहावना लगता है । पर भगवान् राम कहते हैं—चतुर व्यक्ति वह है जो इससे सावधान रहता है, जो समझ लेता है कि यह आक्रमण

की पूर्व पीठिका है। वे काम की चतुरंगिणी सेना का वर्णन करते हुए कहते हैं—

रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना।
चातक बंदी गुनगन बरना॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई।
त्रिबिध बयारि बसीठीं आई॥ ३।३७।८-९

—पर्वतों की शिलाएँ काम के रथ हैं; जो झरने झर रहे हैं, वे काम के नगाड़े हैं; पपीहे भाट हैं, जो विरदावलि का वणन करते हैं; भौंरों की गुंजार भेरी और शहनाई है; शीतल, मन्द और सुगन्धित हवा मानो दूत का काम लेकर आयी है। ये जो वृक्ष हैं, वे काम के सैनिक हैं। इस प्रकार वसन्त का चित्र प्रस्तुत करते हुए वे आगे कहते हैं—

लछिमन देखत काम अनीका।
रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥ ३।३७।११

—लक्ष्मण, काम की इस सेना को देखकर जो धीर बने रहते हैं, जगत् में उन्हीं की वीरों में प्रतिष्ठा होती है।

प्रभु ने लक्ष्मणजी से कहा था कि अबकी बार वसन्त कुछ नयी योजना बनाकर आया है। उनके मत में अबकी बार काम एक नया उद्देश्य लेकर वसन्त को सेनापति बनाकर लेता आया है। काम ने सोचा कि संसार को तो मैंने हरा ही दिया है, अब राम को भी हरा दूं। प्रभु कहते हैं—लक्ष्मण, जब तक सीता मेरे साथ थीं, तब तक मुझे पर आक्रमण करने का साहस काम को नहीं हुआ, पर जब से उसे पता चला कि सीता का हरण हो गया है, तब से उसका साहस बढ़ गया। उसने सोचा कि यही समय है, जब वह आक्रमण करके मुझे हरा दे सकता है—

बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।

सहित बिपिन मधकर खग मदन कीन्ह बगमेल ।।
——३।३७ (क)

——मुझे विरह से व्याकुल, बलहीन और बिलकुल अकेला जानकर काम ने अपनी सेना लेकर मुझ पर धावा बोल दिया। और लक्ष्मण, मुझे तो लगता है कि यदि मैं अकेला होता तो हार जाता। काम जब अपने सेनापति वसन्त को लेकर आया, तो उसने यह जानने के लिए अपना दूत भेजा कि मैं अकेला हूँ अथवा कोई मेरे सहायक भी है। जब दूत ने मुझे देखा तो उसका साहस बढ़ा, पर ज्योंही उसकी दृष्टि तुम पर पड़ी, वह डरकर लौट गया और सूचना दे दी कि उसके साथ तो लक्ष्मण है——

देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात ।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात ।। ३।३७(ख)

——बस, त्योंही कामदेव ने मानो सेना को रोककर डेरा डाल दिया है।

भगवान् श्री राम के इस कथन को हम बहिरंग और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से समझ सकते हैं। बहिरंग दृष्टि से उनका तात्पर्य यह है कि सीता के वियोग में मेरी बुद्धि, मेरा विवेक समाप्त हो रहा है और मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ कि जैसे प्राण चले जाएँगे। हो सकता है कि मुझे मस्तिष्क-विभ्रम भी हो जाता, लेकिन लक्ष्मण, मेरे अन्तःकरण में यह जो स्थिति आनेवाली थी, तुम्हारे कारण वह नहीं आ पायी। अगर मैं काम के सामने पराजित होनेवाला भी था तो तुम्हारे कारण नहीं हुआ। इस कथन के पीछे प्रभु का तात्पर्य यह था कि लक्ष्मण, सीता से मेरा वियोग तो कुछ ही दिनों का है, पर उर्मिला से इतने वर्षों का वियोग होने पर भी

तुम्हारे अन्त:करण में कभी विकृति उत्पन्न नहीं हुई। यह सोचकर मैं संकोच से गड जाता हूँ और सोचा करता हूँ कि कम से कम तुम्हारा बड़ा भाई ोने के नाते मुझे कुछ मर्यादा का ख्याल रखना चाहिए। अत: यदि मैं सुरक्षित हूँ, मेरा मस्तिष्क यदि सुस्थिर है तो वह तुम्हारे संग का परिणाम है। आध्यात्मिक दृष्टि से प्रभु के कथन का अर्थ यह है कि वैसे तो काम से रक्षा भक्ति के माध्यम से ही होती है, पर अगर वैराग्य भी रहे तो भी रक्षा हो जाती है। भक्ति के अभाव में काम आक्रमण करने की चेष्टा कर सकता है, पर लक्ष्मण, तुम जैसा वैराग्य यदि साथ में हो तो एक बार काम का आक्रमण होने पर भी उससे बचा जा सकता है।

शंकरजी के प्रसंग में भी जब काम उन पर आक्रमण करने के लिए आता है तो—

प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा।
कुसुमित नव तरु राजि बिराजा ।। १।।८५।६

—तुरन्त सुन्दर ऋतुराज वसन्त को प्रकट करता है, जिससे फूले हुए नये-नये वृक्षों की कतारें सुशोभित हो जाती हैं। और वसन्त में आम का वृक्ष व्यक्ति को बड़ा प्रिय लगता है। आम का फल भला किसे प्यारा नहीं लगता ? आम के बौर की सुगन्ध किसे आकृष्ट नहीं करती ? और उस आम के वृक्ष पर काम आ जाता है तथा वहीं से वह शंकरजी पर आक्रमण करता है। फलस्वरूप भगवान् शंकर काम को जला देते हैं। पर धन्य है शंकरजी का आचार्यत्व, उनका वैद्यत्व। उन्होंने काम को तो जलाया, पर जिस आम के वृक्ष पर वह बैठा था, उसे नहीं जलाया। माना यह जाता है कि शंकरजी यदि अपनी तीसरी आँख खोल

दें तो सारी सृष्टि ही जल जाएगी। फलतः काम के साथ यदि आम भी जल जाता, तो कोई आश्चर्य की बात न होती। पर भगवान् शंकर ने वसन्त को नहीं जलाया, आम को नहीं जलाया। सांकेतिक भाषा यह है कि उन्होंने काम को आधा जलाया और आधा छोड़ दिया, अर्थात् काम को तो जला दिया, पर उसकी पत्नी रति को छोड़ दिया। बस, यही काम का वह शुद्ध उपयोग है, जिसे भगवान् शंकर अपनी प्रक्रिया से साधित करते हैं। वसन्त को नहीं मिटाना है, आम को नहीं मिटाना है, रति को नहीं मिटाना है। केवल काम को ही भस्म के रूप में परिणत करना है, जिससे उसके अमंगलकारी तत्त्व नष्ट हो जायँ।

गोस्वामीजी वसन्त को दोहरे रूप में देखते हैं। नारद के प्रसंग में वे लिखते हैं—

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।
मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता ॥ ३।४३।१

—मोहरूपी वन को विकसित करने के लिए नारी वसन्त ऋतु के समान है। तो, नारी का एक रूप वह है, जहाँ वह वसन्त के रूप में काम की संगिनी हो वासना का संचार करती है। पर उसका एक दूसरा रूप भी है, जहाँ वह श्रद्धा के रूप में सन्त-सभारूपी अमराई को विकसित करने हमारे जीवन में आती है। गोस्वामीजी दूसरे प्रसंग में सन्त को आम्रवृक्ष के रूप में निरूपित करते हैं और सन्त-सभा को अमराई के रूप में। वे लिखते हैं—

संतसभा चहुँ दिसि अवँराई।
श्रद्धा रितु बसंत सम गाई ॥१।३६।१२

—सन्तों की सभा चारों ओर की अमराई है और श्रद्धा

वसन्त ऋतु के समान कही गयी है। जब वासना का वसन्त अन्तःकरण में आता है, तब मनुष्य कामोन्मुख होता है और श्रद्धा का वसन्त आने पर वह सत्संगी बनता है, सन्तों की सभा के प्रति उसकी रुझान बढ़ती है।

हमने कहा कि भगवान् शंकर ने काम को तो जलाया, पर आम को नहीं जलाया। इसका तात्पर्य क्या है? आपने रामायण के उत्तरकाण्ड में पढ़ा होगा कि काकभुशुण्डिजी सुमेरु पर्वत पर अपने निवास में चार वृक्षों के नीचे अलग-अलग चार काम करते हैं। कथा कहनी होती तो वटवृक्ष के नीचे बैठ जाते थे—

बर तर कह हरि कथा प्रसंगा (७।५६।७)

पर जब भगवान् की सुन्दरता और रूप का ध्यान करना होता तो—

आँब छाँह कर मानस पूजा (७।५६।६)

—आम के वृक्ष के नीचे बैठ जाते। बड़ी सांकेतिक बात है। भगवान् शंकर का तात्पर्य यह है कि आम रस का प्रतीक है, और रस की अभिलाषा, रस की प्यास भला किसमें नहीं होती? अब प्रश्न यह है कि समाज से काम को नष्ट करने के लिए क्या रस की प्यास, रस की अभिलाषा को भी मिटा दिया जाय? शंकरजी मानो यह बताना चाहते हैं कि नहीं, यह तो बस रस के सदुपयोग या दुरुपयोग का प्रश्न है। राम का ध्यान करनेवाला आम के नीचे बैठा और शंकर पर आक्रमण करनेवाला आम के ऊपर। और जब आम के ऊपर, रस के ऊपर काम आरूढ़ हो जाय, तब शंकरजी के मत में, उस काम को जला ही देना चाहिए। पर सावधानी रखी जानी चाहिए कि रस की वृत्ति को समाप्त न किया जाय। साथ ही रति की वृत्ति को भी बचा-

कर रखने की चेष्टा करनी होगी। यह रति की वृत्ति क्या है?—वह है मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा। यदि मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा ही सृष्टि से समाप्त हो जाय, तो साधक के मन में ईश्वर से मिलने की उत्कण्ठा कहाँ से आएगी? इसलिए भक्त लोग भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि प्रभु, काम को मिटा दीजिए, पर रति को बने रहने दीजिए। भरतजी ने यही माँगा था—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन।।२।२०४

—प्रभु, जन्म-जन्मांतर में आपके चरणों में रति, एकमात्र कामशून्य रति को छोड़ मैं और कुछ नहीं चाहता।

तो, शंकरजी एक नया दर्शन प्रदान करते हैं—वह यह कि काम को तो भस्म कर दिया जाय, पर कामशून्य रति बनी रहे। रति भले ही अपने को अनाथ अनुभव करे, वह भले ही कहे कि महाराज, मेरे पति को आपने जला दिया और मुझे छोड़ दिया, पर भगवान् शंकर कहते हैं कि रति, तुम्हारा जीवित रहना अपेक्षित है। काम लोगों के अन्तकरण में अमर्यादित आचरण की सृष्टि करता है, इसलिए उसे विनष्ट कर दिया। गोस्वामीजी कहते हैं कि जब शंकरजी ने काम को जला दिया तो सबसे ज्यादा प्रसन्नता साधकों और ब्रह्मचारियों को हुई—

भए अकंटक साधक जोगी (१।८६।८)

—जितने साधक और योगी थे, वे निष्कण्टक हो गये। पर रति ने शिकायत के स्वर में कहा—महाराज, आपने मेरे पति को यह जो जलाया, तो क्या उससे सारे लोक ही नहीं जल जाएँगे? यदि सृष्टि में काम नहीं रहेगा तो लोक भला फिर कैसे रहेंगे? इस पर भगवान् शंकर रति को

सान्त्वना देते हुए बोले—रति, अब तुम्हारा काम अशरीरी होगा और बाद में जब भगवान् का अवतार श्रीकृष्ण के रूप में होगा, तब तुम्हारा पति उनके पुत्र के रूप में उत्पन्न होगा। मेरा यह वचन अन्यथा नहीं होगा—

जब जदुबंस कृष्न अवतारा ।
होइहि हरन महा महिभारा ।।
कृष्न तनय होइहि पति तोरा ।
बचनु अन्यथा होइ न मोरा ।।१।८७।१-२

तात्पर्य यह है कि काम जब राम की सेवा में, भगवान् की सेवा में स्वयं को समर्पित कर दे और रति उनकी पुत्र-वधू बनकर अपने को सौभाग्यशालिनी माने, तो यही जीवन की परिपूर्णता है। इस तरह गोस्वामीजी काम के दोनों पक्षों का वर्णन करते हैं—एक ओर उसका आसुरी पक्ष है, जो लंका में है और दूसरी ओर उसका यह देवपक्ष है, जिसकी चर्चा अभी की गयी। इस देवपक्ष को भी किस तरह नियंत्रित होना चाहिए, गोस्वामीजी ने इसका भी संकेत करते हुए 'काम-वात' का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

○

यदि कोई व्यक्ति दूसरों के दोष देखता है, तो सर्वप्रथम उसी का मन दूषित होता है। दूसरों के छिद्रान्वेषण से उसे क्या लाभ होता है? उससे वह स्वयं अपने को ही चोट पहुचाता है।

—श्री माँ सारदा

माँ के सान्निध्य में (१०)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर के संचालक हैं। --स०)

पिछली रात गिरीशबाबू ने देह त्याग दी। इसी प्रसंग में मैंने माँ से पूछा, "माँ, जो लोग मृत्यु से पूर्व बेहोशी की अवस्था में देह छोड़ते हैं, उनकी गति किस प्रकार होती है?"

माँ--बेहोश होने के पूर्व जो चिन्तन हुआ था तथा जिस चिन्तन के फलस्वरूप वह बेहोश हुआ, उसी चिन्तन के अनुसार उसकी गति होती है।

मैं--हाँ, गिरीशबाबू भी शाम को ६ बजे के कुछ देर पश्चात् 'जय रामकृष्ण, चलो' कहकर जो सोये तो उसके बाद उन्हें और होश नहीं आया। उसके कुछ समय पहले वे केवल 'चलो चलो' 'जरा पकड़ो न रे बाप' यही सब कह रहे थे।* मैंने उनसे कहा, 'आप यह क्या केवल 'चलो चलो' कहे जा रहे हैं? अब आप ठाकुर का नाम लीजिए, उससे आप अच्छे हो जाएँगे।' मेरे दो बार यही बात कहने पर उन्होंने कहा, 'वह क्या मैं नहीं जानता हूँ।' मैंने सोचा कि बाप रे, इन्हें तो भीतर ही भीतर होश है।

माँ--जिस चिन्तन से उसे बेहोशी हुई, वह मानो उसी चिन्तन में डूबा रहा। सभी (ठाकुर के सब शिष्य)

---

* गिरीशबाबू की गंगा जाने की बहुत पुरानी इच्छा थी। इसीलिए वे वैसा कह रहे थे। उनके भाई अतुलबाबू ने कहा था, 'मेरे भाई को और गंगायात्रा क्यों! गिरीशबाबू की इच्छा तब मैं समझ नहीं पाया था।'

उनके (ठाकुर के) पास से आये हैं और उनके पास चले जाएँगे। कोई उनकी भुजा से, कोई पाँव से और कोई रोम से हुए हैं—सब उनके अंग और अंश हैं।

गौरी-माँ उपस्थित थीं। उन्होंने बातचीत के दौरान कहा, "ठाकुर ने और दो बार आने की बात कही है। एक बार वे बाउल के वेश में आएँगे।"

माँ—हाँ, ठाकुर ने मुझसे कहा था, 'तुम्हारे हाथ में एक हुक्का रहेगा', तथा ठाकुर के हाथ में पत्थर का एक टूटा हुआ बर्तन रहेगा। हो सकता है टूटी कड़ाही में ही भोजन बने। वे जा रहे हैं तो जा ही रहे हैं—जरा भी इधर-उधर भ्रूक्षेप नहीं।

"लक्ष्मी ने कहा था, 'बोटी-बोटी काट डालने पर भी मैं अब और नहीं आने की।' इस पर उन्होंने हँसकर कहा, 'मैं अगर आऊँ तो तुम लोग जाओगी कहाँ? प्राण नहीं टिकेंगे। शैवाल* के दल की भाँति एक जगह बैठकर खींचते से ही सब चले आएँगे।'

"वृन्दावन में रेल से उतरी थी। लड़के पहले उतर गये थे। गोलाप गाड़ी से सामान उतरवा रही थी। लाटू का हुक्का पड़ा हुआ था, उसे मेरे हाथ में दिया। लक्ष्मी ने कहा, 'यह तुम्हारा हुक्का पकड़ना हो गया।' मैंने भी कहा, 'ठाकुर, ठाकुर! यह मेरा हुक्का पकड़ना हो गया!' और यह कह मैंने उसे जमीन पर गिरा दिया।"

उद्‌बोधन, माँ का कमरा, २१-२-१९१२

माँ चौकी के पास नीचे बैठी हुई हैं। सुबह ७ बजे का समय है। स्वामी निर्भयानन्द द्वारकाधाम गये हैं। उन्होंने माँ को पत्र लिखा है और उसके साथ गिरनार के दत्तात्रेय

* एक प्रकार की काई।

का चावल-प्रसाद भेजा है। माँ को प्रसाद देने पर उन्होंने पूछा, "दत्तात्रेय कौन हैं ?"

मैं—जड़भरत, दत्तात्रेय—वे ब्रह्मर्षि थे, ईश्वरकोटि।

माँ—जैसे ठाकुर के लड़के ? वे सब ईश्वरकोटि थे न ? योगीन (योगानन्द) को वे अर्जुन कहते। स्वामीजी (विवेकानन्द) को सप्तर्षियों में से ले आये थे। बाबूराम को नैकष्यकुलीन (नितान्त पवित्र) कहते। निरंजन, पूर्ण, राखाल (ये भी उनकी दृष्टि में ईश्वरकोटि थे)।

मैं—बेलघरिया के तारकबाबू ?

माँ—हाँ, भवनाथ। भवनाथ को वे नरेन्द्र की प्रकृति कहते। शरत् को कुछ कहते थे क्या ?

मैं—मालूम नहीं। बताओ न और कौन-कौन क्या हैं?

माँ—क्या पता, और नहीं जानती। शरत् को ईश्वर-कोटि नहीं कहा।

मैं—तुमने तो कहा था, 'शरत् (सारदानन्द) और योगीन ये दो मेरे अन्तरंग हैं।' अच्छा, कोई-कोई ईश्वर-कोटि संसार में ऐसे कैसे डूबे हुए हैं—स्त्री-पुत्र लेकर ?

माँ—हाँ, सड़ रहे हैं। पूर्ण का बलपूर्वक विवाह किया। (घरवालों ने) उससे कहा—अगर तू ठाकुर के पास जाएगा तो वे जब कलकत्ता आएँगे, उनकी गाड़ी पर पत्थर बरसाकर उसे तोड़ डालेंगे।

मैं—कर ही लिया विवाह। नाग महाशय ने भी तो शादी की थी। पर इन लोगों के लड़के-बच्चे, घर-संसार !

माँ—वासना रही होगी। इस सृष्टि में कैसी-कैसी गड़बड़ी है—ठाकुर यह लेकर वह करते हैं, राम की टोपी श्याम को पहनाते हैं, इसको लेकर उसको बनाते हैं, जाने कितना क्या-क्या करते रहते हैं !

बाद में कहने लगीं, "दुनियादारी करते हुएभी कोई ईश्वरकोटि हो सकता है. उसमें भला क्या दोष ?"

राधू बीमार है—बुखार और पीड़ा है । इससे माँ बड़ी चिन्तित हैं । कह रही हैं, "मेरे रहते-रहते इसका कुछ ठीक नहीं हुआ तो इसके बाद उसे कौन देखेगा ? ऐसा होने से वह क्या बचेगी ?"

मैं—तुम्हारे पास तो सारे दिन भक्तों की भीड़ लगी रहती है । तुम्हें तो थोड़ा भी विश्राम नहीं मिलता ।

माँ—मैं तो ठाकुर से दिनरात कहती रहती हूँ, 'ठाकुर, यह सब कम कर दो, थोड़ा विश्राम लेने दो ।' पर वह होता कहाँ है ? जितने दिन हूँ ऐसा ही चलेगा । अब चारों ओर प्रचार होता जा रहा है न, इसीलिए इतने लोग आ रहे हैं । बँगलौर में देखा—बापरे, कितने लोग थे ! रेल से उतरते ही रास्ते में फूलों की वर्षा होने लगी । रास्ता इतना (हाथ से बताकर) ऊँचा हो गया । ठाकुर के पास भी अन्त-अन्त में कितने लोग आने लगे थे । मैं तो कितना कहती हूँ, 'कुलगुरु से मंत्र लो, वे लोग आस लगाये रहते हैं । मेरी तो कोई आस नहीं ।' पर वे छोड़ते नहीं, रोते हैं । देखकर दया आती है । फिर मेरे भी तो दिन अब चुक रहे हैं । अब जितने दिन हूँ, ऐसा ही होगा ।

मैं—न, न, तुम ऐसी बात क्यों कह रही हो ? तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है । विशेष कोई तकलीफ भी तुम्हें नहीं है । फिर क्यों जाना चाहती हो ? वैसी बात मत कहो ।

इस समय कुछ दिनों से माँ का मन बड़ा उदास और खिन्न रहता था ।

नीचे गोलाप-माँ किसी के साथ तर्क कर रही थीं ।

माँ ने पूछा, "वहाँ फिर क्या तर्क चल रहा है ?"

मैं—गोलाप-माँ कुछ बक रही हैं ।

माँ—बात में मदहोश होना अच्छा नहीं, इससे खराब का ही चिन्तन होता रहता है और उससे दुःख होता है । गोलाप सच कहने के इतना पीछे पड़ी रहती है कि लोक-लाज खो बैठी है । मैं लोक-लाज किसी प्रकार छोड़ न सकी । 'सत्य यदि अप्रिय हो तो कभी उसको न कहो ।'

और भी एक दिन गोलाप-माँ ने एक के पास ऐसा ही अप्रिय सत्य कह दिया था । इस पर माँ ने कहा था, "यह क्या गोलाप, तुम्हारा यह कैसा स्वभाव होता जा रहा है ?"

दोपहर में एक पागल माँ के पास आया था और बड़ी गड़बड़ी कर गया । उस प्रसंग में माँ कह रही हैं, "उन्होंने (ठाकुर ने) किसी को (मेरे बारे में) पता ही नहीं चलने दिया—कितनी सावधानी से (मुझे) रखा था । अब तो बाजार में डंके की चोट पर सब जाहिर कर दिया गया है । मास्टर (श्री'म') ने ही तो 'वचनामृत' में सब छापकर सबका दिमाग खराब कर दिया । गिरीशबाबू ने ठाकुर पर ऐसी जोर-जबरदस्ती की थी न, उनको गालियाँ दी थीं न, इसीलिए वे लोग भी अब ऐसा करना चाहते हैं ।

"फिर, मंत्र लेने को क्या यही एक जगह मिली ? मठ (बेलुड़ मठ) में भी तो सब लड़के हैं । उनके पास जाकर क्या मंत्र नहीं ले सकते ? उनमें क्या शक्ति नहीं है ? सब लोग मेरे ही पास भेज देते हैं । मैं तो यहाँ तक बोल चुकी हूँ कि कुलगुरु का त्याग करने से महापाप होता है । फिर भी वे नहीं लौटते ।"

मैं—तुम जो मंत्र देती हो, वह तो इच्छा करके ही देती हो ।

माँ—दया के कारण मंत्र देती हूँ । छोड़ते नहीं, रोते

हैं, देखकर दया आती है । कृपावश मंत्र देती हूँ । नहीं तो मुझे क्या लाभ ? मंत्र देने से उसका (शिष्य का) पाप लेना पड़ता है । सोचती हूँ शरीर तो जाएगा ही, कम से कम इनका काम बन जाय ।

उद्‌बोधन, माँ का कमरा, २४-४-१९१२

१।। बजे हैं । दोपहर का भोजन करके ऊपर पान लाने गया । सुना कि माँ किसी के बारे में कह रही हैं—

"छोड़ न सके स्वभाव को जीव दुःख विपदा सहे ।
तज स्वभाव ईश्वर भजे भक्तिभाव उसको लभे ।।"

मैं—माँ, इसका अर्थ क्या ?

माँ—मनुष्य स्वभाव नहीं छोड़ पाता । चैतन्यदेव ने कहा था—अपना (पूर्व) स्वभाव छोड़ जो मेरा भजन करता है, उसको मैं भजता हूँ ।

मैं—तुमने जयरामवाटी में एक बात कही थी, 'स्वभाव यदि बदल जाय तो हो जाय ।' और एक दिन तुमने कहा था, 'किसी किसी का स्वभाव ऐसा होता है कि देखने पर प्यार करने की इच्छा होती है, फिर किसी किसी को देखने पर मन में कैसा-कैसा लगता है ।'

माँ—ठीक कहते हो, बेटे ! स्वभाव ही सब कुछ है । और भला है क्या ?

मैं—शरत् महाराज ने गोलाप-माँ की बात पर कहा था, 'एक डाब (कच्चा नारियल) देगी तो घर भर में उसकी चिल्लाहट गूंज जाएगी ।'

माँ—हाँ, इन लोगों का कैसा-कैसा स्वभाव हो गया है अब । थोड़ा कुछ होते ही चिल्ला-चिल्लाकर सबको तंग कर डालती हैं । जोगेन (योगीन-माँ) पहले बड़ी धीर-स्थिर थी । अब वैसी नहीं है । देखो बेटा; सहनशीलता

बहुत बड़ा गुण है—उससे बढ़कर गुण और नहीं है।

मेरा सिर खूब पकड़ गया था। अपराह्न चार बजे ऊपर गया। माँ से कहा, "माँ, सिर बेहद धमक रहा है।" माँ सब सुनकर बोलीं, "लगता है गरम हो गया है।" यह कह वे शीघ्र गयीं और एक पत्ते में थोड़ा घी और कपूर लेकर, पानी में उसे मिलाते-मिलाते मेरे पास आयीं और मेरे समूचे ललाट पर उससे मालिश करने लगीं। बोलीं, "जब ठाकुर का सिर धमकने लगता, तब वे यह दवा लगाते थे।" कुछ मिनट मालिश करने पर मुझे भी कुछ अच्छा लगा। मैं नीचे आया। कुछ देर बाद ही सिर की धमक शान्त हो गयी। जाकर माँ से कहा, "माँ, सिर का धमकना ठीक हो गया है।"

पोलैण्ड की एक मेम वेदान्त पढ़ने के लिए भारत आयी हुई हैं। कलकत्ते में माँ की खबर पा उनके दर्शनों के लिए आयी हैं। उन्होंने माँ से कुछ बातचीत की। 'बहाई' सम्प्रदाय की बात उठाकर वे माँ से बोलीं कि वह भी श्री-रामकृष्ण की सीख के ही समान सर्वधर्म-समन्वय में विश्वास करता है। बातचीत से ऐसा लगा कि मेम इस सम्प्रदाय की ही रही होंगी।

मेम के चले जाने पर मैंने माँ से पूछा, "यह जो मेम आयी थी, उसे देखकर तुम्हें कैसा लगा?"

माँ—सब अच्छा ही।

मैं—ये लोग कितनी दूर से आये हैं। पोलैण्ड रूस का एक राज्य है। रूस और जापान में लड़ाई हुई थी न? वही रूस देश।

माँ—रूस देश की है? रूसी लोग जबरदस्त योद्धा होते हैं! यहाँ धर्म की शिक्षा लेने आयी है। लंका में तीन-

चार माह रही ।

मैं—अब सब चारों ओर फैलता जा रहा है । कहाँ पोलैण्ड और कहाँ 'उद्बोधन' कार्यालय ! तुम्हें तो, माँ, कुछ अन्दाज ही नहीं होगा ।

माँ—ठाकुर ने भावावस्था में कहा था, 'इसके बाद घर-घर मेरी पूजा होगी । मेरे कितने अपने लोग हैं इसकी कोई गिनती नहीं है ।' निवेदिता ने कहा था, 'माँ, हम लोग भी हिन्दू हैं । कर्मफेर से उस देश में जन्म हुआ । तुम देखोगी कि हम लोग भी बिलकुल ऐसे ही ठीक-ठीक हिन्दू हो जाएँगे ।' उन लोगों (निवेदिता आदि) का यही आखिरी जन्म है ।

उद्बोधन, पूजाघर, सुबह ७ बजे, अप्रैल १९१२

कुछ दिन पहले श्रीयुत सुरेन्द्र चक्रवर्ती अपनी पत्नी के साथ माँ के दर्शनों के लिए आये थे । बाद में एक दिन वे अकेले ही आये । माँ को प्रणाम कर उन्होंने पूछा, "उस दिन उसे (पत्नी को) देखकर कैसा लगा ?" माँ बोलीं, "अच्छा लगा ।"

सुरेन्द्रबाबू—पर मुझे वह अच्छी नहीं लगती ।

माँ—तुम लोगों की आजकल बस वही एक बात रहती है ।

सुरेन्द्रबाबू—माँ, मात्र हम लोग ही ठाकुर के दर्शन नहीं कर पाये ।

माँ—जरूर करोगे । तुम लोगों का यही अन्तिम जन्म है । निवेदिता ने कहा था, 'माँ, हम लोग भी हिन्दू हैं, कर्म के फेर से ईसाई होकर जनमी हैं ।' उन लोगों का भी यही अन्तिम जन्म है ।

इस प्रकार माँ अनेक लोगों के बारे में अन्तिम जन्म

की बात कहतीं। इसलिए आज मैंने उनके पास जाकर पूछा, "माँ, 'अन्तिम जन्म' का क्या मतलब ? ठाकुर ने कइयों के अन्तिम जन्म की बात कही है, तुम भी कहती हो।"

माँ—अन्तिम जन्म का मतलब यह है कि उसको आवागमन के चक्कर से मुक्ति मिल जाएगी, इस जन्म में ही सब शेष हो गया।

मैं—इनमें से कइयों में वासना का खेल देखा जाता है—दुनियादारी, लड़के-बच्चे, परिवार। वासना के न कटने पर आवागमन का चक्कर कैसे कट सकता है ?

माँ—वे (ठाकुर) जिसके बारे में जैसा कह गये हैं वह सब सत्य ही तो होगा। गलत होने की तो कोई सम्भावना नहीं है। अभी वासना रहे या वह जो करे, उन्होंने (ठाकुर ने) देख लिया है कि अन्त में वह सब कुछ नहीं रहेगा। वे यह समझ सके थे।

मैं—तो क्या अन्तिम जन्म का मतलब निर्वाण है ?

माँ—हाँ, वही तो। शायद शरीर छूटने के समय मन वासनाशून्य हो जाय।

मैं—माँ, ठाकुर ने बहुतों को अपना जन कहा है, इसका क्या तात्पर्य ?

माँ—ठाकुर कहते थे, 'उनमें कोई शरीर से, तो कोई रोमकूप से तो और कोई हाथ-पैर से निकला है। वे सब साथ के जन हैं।' जैसे राजा जब कहीं जाता है, तो साथ के सारे जन वहाँ जाते हैं। मैं यदि जयरामवाटी जाऊँ तो क्या मेरे साथ के लोग नहीं जाएँगे ? वैसे ही जो अपने जन हैं, वे सब युग-युग के संगी हैं। ठाकुर कहा करते, 'जो अन्तरंग हैं वे व्यथा के व्यथी हैं।' इन सब लड़कों को दिखाकर वे कहते, 'ये मेरे सुख में सुखी, दुःख में दुःखी,

व्यथा के व्यथी हैं।' वे जब आते हैं, तब सब हाजिर हो जाते हैं। नरेन (विवेकानन्द) को वे सप्तर्षियों में से ले आये थे—फिर भी पूरा नहीं आया था। शम्भु मल्लिक को माँ-काली के पीछे देखा था—दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में ध्यान करते समय। बलरामबाबू को वैसा ही देखा था जैसा उनका चेहरा है। पहली बार देखते ही कहा था, 'ठीक ऐसा ही देखा है, सिर पर पगड़ी, गौर वर्ण।' और सुरेन मित्तिर। कहते, 'ये तीन जन रसददार हैं।' एक दिन ठाकुर (कुछ भक्तों के सम्बन्ध में) बोले, 'उन लोगों ने माँ-काली को भोग न लगा चित्र (ठाकुर के चित्र) को क्यों लगाया ?'* हम लोगों को डर लगा कि कहीं अमंगल न हो। ठाकुर ने कहा, 'अजी, तुम लोग चिन्ता मत करो—इसके बाद घर घर मेरी पूजा होगी। शपथ खाकर कहता हूँ—बाप कसम !'

"उन्होंने इतना कहा यह किसके लिए ? मेरे और लक्ष्मी के लिए ही तो। तब हम दोनों की उमर कम थी। इतना सब क्या समझतीं ?

"अब के लोग सब सयाने हैं—झट से फोटो खींच लिया। यह जो मास्टर महाशय हैं, क्या किसी प्रकार कम हैं ? जितनी बातें हैं सब लिख ली हैं। किस अवतार का फोटो है ? किस अवतार की बातचीत को इस प्रकार लिखा गया है ?"

मैं—'वचनामृत' के बारे में मास्टर महाशय ने कहा

* एक बार कुछ भक्त मिष्टान्न आदि लेकर दक्षिणेश्वर गये। देखा कि ठाकुर नहीं हैं। तब वे चिकित्सा के लिए काशीपुर में थे। भक्तों ने वह सब सामग्री ठाकुर के फोटो के सामने ही भोग लगा दी और प्रसाद ग्रहण किया।

था कि दस-बारह खण्ड निकलने पर तब कहीं सारी बात निकाली जा सकेगी । अब पता नहीं उतनी सब बातें कब निकल पाएँगी ?

माँ—हाँ, उमर हो गयी है । (निकलने के) पहले ही कहीं न चले जायँ ।

मैं—माँ, तुमने मुझसे जयरामवाटी में कहा था कि ठाकुर गौरांग भक्तों के भीतर आएँगे । सो कैसी बात है ?

माँ—नहीं, मैंने कहा था कि उनके बहुत से गौरांग भक्त आएँगे । जैसे अभी सब ईसाई लोग आ रहे हैं न ? ठाकुर ने कहा था कि एक सौ वर्ष बाद वे फिर से आएँगे । ये एक सौ वर्ष वे भक्तों के हृदय में रहेंगे । (पश्चिम की ओर के) गोल बरामदे से बाली, उत्तरपाड़ा (मुहल्लों) की ओर हाथ दिखाकर कहा था । मैंने कहा, 'मैं और नहीं आ सकूंगी ।' लक्ष्मी बोली, 'मेरी बोटी बोटी काटने पर भी मैं आनेवाली नहीं ।' ठाकुर ने हँसकर कहा था, 'जाओगी कहाँ ? शैवाल के दल हो तुम सब, एक जगह बैठकर खींचने से ही सब खिंचे चले आएँगे ।'

"फिर इतनी सब बातों का प्रयोजन भी भला क्या है ? ठाकुर कहते थे, 'आम खाने आये हो, आम खा लो । इतना सब पत्ते और डाल गिनकर क्या होगा ?"

मैं—पर माँ, बिना कुछ प्रत्यक्ष देखे कैसे कुछ होगा ? एक बार एक मुसलमान फकीर से मैंने पूछा था, 'लोग मछली पाने की आशा में बंसी लेकर तालाब या नदी के किनारे ही बैठते हैं, गोखुर के जल में बंसी डालकर नहीं बैठते ! जिसको पाने की आशा लेकर आप फकीर हुए, उसकी कोई खबर आपको मिली है क्या?'

माँ—उसने क्या कहा ?

मैं—कहता भी क्या ?

यह सुनकर माँ इस सम्बन्ध में कुछ सोचकर बोलीं, "ठीक बात है, सही कहते हो। कुछ न मिले तो कैसे कुछ हो ? पर विश्वास लेकर चलते रहना पड़ता है।"

मैं—उस दिन शरत् महाराज बोले और स्वामीजी ने भी कहा था, 'सोचो कि बाजू के कमरे में सोने की इट रखी है। कोई चोर इस बाजू के कमरे से वह जान गया है। बीच में दीवाल है इसलिए वह सोने को ले नहीं पा रहा है। उस चोर को क्या नींद आएगी ? वह सब समय यही सोचेगा कि कैसे सोने की ईंट को हथियाया जाय। उसी प्रकार यदि मनुष्य ईश्वर कहकर कोई हैं यह ठीक ठीक समझ ले, तो क्या वह संसार-फंसार कर सकेगा ?'

माँ—वह तो ठीक ही बात है।

मैं—जो कहो, माँ, त्याग-वैराग्य ही मुख्य है। वह क्या हमारे नहीं होगा ?

माँ—क्यों नहीं होगा ? ठाकुर के शरणागत होने से सब होगा। त्याग ही उनका ऐश्वर्य था। उन्होंने त्याग किया था इसीलिए हम लोग उनके नाम पर खा-पी रहे हैं। लोग सोचते हैं—वे तो इतने बड़े त्यागी थे, पता नहीं उनके ये भक्त लोग कितने बड़े होंगे।

"अहा, एक दिन वे भोजन के बाद नौबतखाने में आये। उनके बटुए में मसाला नहीं था। थोड़ी अँजवाइन और सौंफ खाने को दी और थोड़ी कागज में बाँधकर हाथ में दे दी, बोली, 'ले जाओ।' वे नौबतखाने से अपने कमरे की ओर जाने लगे, पर उनके पैर अपने कमरे की ओर न पड़ दक्षिण की ओर नौबतखाने के पास गंगातीर पर जो घाट है उधर जाने लगे। उन्हें मानो रास्ता नहीं सूझ

रहा था, होश भी नहीं था। कहने लगे, 'माँ, डूबूं ?' इधर मैं छटपट करने लगी—गंगा चढ़ी हुई थी। औरत जो ठहरी, निकलती नहीं थी, कहीं कोई दिख भी नहीं रहा था। किसको भेजती ? अन्त में माँ-काली का एक रसोइया उधर आया। उसके द्वारा हृदय को बुलवाया। हृदय खाने बैठा था, वह जूठे मुँह ही दौड़ा आया और उन्हें एकदम पकड़कर ले गया। थोड़ी और देर होती तो गंगा में गिर पड़ते।"

मैं—वे दक्षिण दिशा में क्यों गये ?

माँ—हाथ में थोड़ी अँजवाइन और सौंफ दे दी थी न। साधु को संचय नहीं करना चाहिए। इसीलिए वे रास्ता नहीं देख पाये। उनका त्याग सोलह आने जो था।

"पंचवटी में एक वैष्णव साधू आया था। पहले तो उसमें बड़ा त्याग था। फिर चूहे के समान खींच-खींचकर लोटा, कटोरी, हाँड़ी, कलसी, चावल, दाल यह सब जोड़ने लगा। यह देख ठाकुर ने एक दिन कहा, "जा रे, अबकी मरेगा !'—माया में फँसता जो जा रहा था। ठाकुर ने उसे खूब त्याग का उपदेश दिया और स्थान छोड़-कर जाने को कहा। तब कहीं वह वहाँ से गया।"

एक भक्त प्रणाम करने आया था। उसके प्रणाम करके चले जाने के बाद माँ कहने लगीं, "उस हरीश को स्नेह देकर एक बार मैं ठगायी हूँ न, इसलिए अब किसी के प्रति स्नेह-प्यार प्रदर्शित नहीं करती।"

○

प्रो० रा.द. रानडे का आध्यात्मिक वाङ्मय

श्रीमती शोभना जोशी
(३९/ए-९, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-६३)

"A writer is dear and near for us only in the measure in which he reveals to us the inner working of his soul" —जो लेखक जितना ही अपनी आत्मा की आन्तरिक अभिव्यक्ति उद्घाटित करता है, वह उतना ही हमें प्रिय और आत्मीय लगता है।

प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य आत्मज्ञान का विवेचन है। इसीलिए उनके ग्रन्थ इतने हृदयस्पर्शी हैं। आत्मा का आविष्कार किसी भी साधक के लिए अत्यन्त दिलचस्प विषय है। रानडेजी ने स्वयं आत्मज्ञान प्राप्त किया और आत्मप्राप्ति का मार्ग उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता तथा सन्तों के उद्धरणों के द्वारा संसार के सामने रखा। प्रत्येक धर्म का लक्ष्य आत्मज्ञान है। जिन सन्तों को उस ब्रह्मास्वाद का सौभाग्य मिला, उन्होंने अपने जीवन में एक ही काम किया। वे ईश्वर में मग्न हुए, उसके गुण गाये और आत्मज्ञान ही मनुष्य-जीवन का उच्चतम ध्येय है यह सन्देश मानवजाति तक पहुंचाया। प्रो० रानडेजी के प्रारम्भिक लेखों से लेकर अन्तिम ग्रन्थ तक यही स्वर अभिगुंजित होता है।

विद्यार्थी-जीवन से ही रानडेजी ने लेख लिखना शुरू किया; वह उनके ग्रन्थ-लेखन का श्रीगणेश था। उन्होंने दर्शनशास्त्र के विविध पहलुओं पर अनेक लेख लिखे। उनके प्रारम्भ में लिखे 'The Centre of the Universe' और 'Meditations on the Fire-fly' ये लेख आत्मानुभूति पर हैं। पहले लेख में उन्हें डेक्कन कालेज

के मैदान में परबिन्दुओं की जो अनुभूति हुई थी उसकी झलक पायी जाती है। अपने दूसरे लेख 'Meditations on the Fire-fly' में वे कहते हैं कि अगर जुगनू बाहर से प्रकाशमान है तो मनुष्य भीतर से। इसमें भी उनका आध्यात्मिक झुकाव प्रकट हुआ है। इस लेख में कार्लाइल की भाषा-शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इन दोनों लेखों को रानडेजी के दार्शनिक चिन्तन का उद्‌गम कहा जा सकता है।

सन् १९१४ में उन्होंने 'On the Study of Indian Philosophy' नाम से एक लेख लिखा, जो उनके 'Essays and Reflections' नामक ग्रन्थ में संग्रहित है। इस ग्रन्थ में उनके और भी लेख हैं, जो विविध विषयों पर लिखे गये हैं; यथा—तत्त्वज्ञान, भाषाशास्त्र, वाङ्‌मय, राजकीय अर्थ-व्यवस्था आदि। यूरोपीय दर्शन का अध्ययन करते समय उन्हें ज्ञात हुआ कि भारतीय और यूरोपीय विचारधाराओं में ऐसे कई साम्य हैं, जिन पर आज तक किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। उदाहरणार्थ, ब्रैडले का Absolutism (निरपेक्षतावाद) कई मुद्दों पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद से मिलता है। उसी प्रकार उन्होंने जेम्स वार्ड और रामानुजाचार्य की विचारधाराओं के साम्य और विरोधों को भी दर्शाया है। अन्त में रानडेजी इस धारणा को गलत साबित करते हैं कि—

East is East and West is West
And never the twain shall meet.

—पूर्व पूर्व है पश्चिम पश्चिम, कभी न मिल पाएँगे दोनों।

'Greek and Sanskrit : A Comparative Study'*

---

* Essays and Reflections, p. 29.

इस लेख में उन्होंने ग्रीक और संस्कृत की भाषाविषयक चर्चा की है। यूरोपीय तत्त्वज्ञान की विचारधारा का उद्गम ग्रीक दर्शन में पाया जाता है। उन मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए रानडेजी ने ग्रीक भाषा का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक समझा और उन्होंने वह भाषा आत्मसात् की। उनके 'Greek and Sanskrit : A Comparative Study' इस लेख में ग्रीक और वेदों के उच्चारण-निदर्शक चिह्न के साम्य तथा संस्कृत वर्गीकरण के अनुसार ग्रीक क्रियापदों की पुनर्रचना के बारे में उनकी की हुई टिप्पणियाँ अत्यन्त अभिनव और उद्बोधक हैं। योगी अरविन्द ने 'a very solid article' (एक बहुत ठोस निबन्ध) कहकर उसकी प्रशंसा की है।

रानडेजी ने ग्रीक तत्त्ववेत्ताओं का सूक्ष्म आलोचनात्मक अध्ययन करके संशोधनात्मक कार्य किया है। अपनी युवावस्था में उन्होंने ग्रीक तत्त्ववेत्ताओं पर जो लेख लिखे, वे तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर हैं। इन मौलिक निबन्धों को Philosophical and Other Essays--Part I में संग्रहित किया गया है, जिसका विमोचन-समारोह जमखण्डी में रानडे महोदय के अमृत-महोत्सव के अवसर पर १९५६ में हुआ था। इन लेखों से बहुत से विवादग्रस्त प्रश्नों को सुलझाने में बड़ी सहायता मिलती है। उनका विशेष लोकप्रिय लेख 'हेराक्लाइटस्' (Heracleitos) पढकर योगी अरविन्द मंत्रमुग्ध हो गये थे। वे कहते हैं—"इस कुशल लेखक और गम्भीर विचारक के द्वारा लिखा हुआ सम्पूर्ण यूनानी दर्शन का इतिहास एक अमूल्य निधि होता।" अगर रानडेजी का स्वास्थ्य ठीक रहता तो वे श्री अरविन्द की मनीषा अवश्य पूर्ण करते।

'A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy' (ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना द्वारा १९२६ में प्रकाशित) प्रो० रा. द. रानडे का पहला ग्रन्थ है। यह लेखक के बारह वर्ष से भी अधिक समय के परिश्रम का फल है। मूल ग्रन्थ अँगरेजी में है और लेखक ने इसे पाश्चात्य प्रणाली और परिभाषा में प्रस्तुत किया है। इसकी रचना का उद्देश्य यह था कि पश्चिमी मनीषी भारतीय दर्शन को सहजता से समझ सकें। इस ब्रह्मविद्या को पश्चिमी पोशाक में उपस्थित करते समय उन्होंने उपनिषद् के मूल स्रोतों को अक्षुण्ण रखा है। इसमें भाषा की जैसी प्रगल्भता है, वैसी ही दार्शनिक गम्भीरता भी।

इस ग्रन्थ को लिखने के लेखक के तीन मुख्य उद्देश्य हैं—पहला, भारतीय दर्शन के पाठकों के सामने उसके अध्ययन को विधायक समालोचना-पद्धति प्रस्तुत करना; दूसरा, पश्चिमी तत्त्ववेत्ताओं के लिए उपनिषदों का यथार्थ चित्रण करना (इसमें पाश्चात्य तत्त्वज्ञों द्वारा भारतीय दर्शनशास्त्र पर किये गये आरोपों का खण्डन भी समाविष्ट है); और तीसरा, ग्रन्थ के चरम उद्देश्य—आध्यात्मिकता—को सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान करना। समय समय पर उपनिषद् भारतीय दर्शन के पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों को आध्यात्मिक रसानुभूति पर विचार करने के लिए बाध्य करता है। इसलिए यह स्पष्ट कर देना भी इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकार विविध औपनिषदिक सिद्धान्त रहस्यात्मक अनुभूति की साधना की ओर अभिमुख हैं। इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में पाठक इस बात का अनुभव करेंगे कि औपनिषदिक दर्शन का चरम विकास है व्यक्तिगत आत्मा में परमात्मा का

दर्शन। इस ग्रन्थ में औपनिषदिक इतिहास, ज्ञान-मीमांसा, मनोविज्ञान, ब्रह्माण्ड-मीमांसा, नीति-मीमांसा आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ईश्वर की अनुभूति क्या है? उसे किस प्रकार प्राप्त किया जाता है? उसके परिणाम क्या हैं? आदि प्रश्नों को उपनिषदों के उद्धरणों द्वारा ही स्पष्ट किया है। उनके द्वारा प्रस्थापित अनुभूति-शास्त्र या साक्षात्कार-शास्त्र दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति ही होगी कि रानडेजी ने दर्शन-परम्परा का पुनः सृजन किया है।

इस ग्रन्थ को पढ़कर रानडे महोदय को देश-विदेश के विद्वानों से प्रशंसात्मक पत्र आने लगे। जर्मन तत्त्ववेत्ता प्रो० गार्बे कहते हैं, "यह आपका monumentum aera perennius (चिरन्तन स्मारक) है।" सचमुच प्राचीन ऋषियों के अमृततुल्य दर्शन की सांगोपांग, सुसंघटित और विधायक समालोचना करनेवाला यह एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। अब तक डायसन का उपनिषद् पर लिखा हुआ ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाता था, लेकिन उसका पूरा आदर करते हुए यह कहना पड़ता है कि रानडेजी के इस ग्रन्थ के सामने वह पिछड़ जाता है। एच. जैकोबी अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहते हैं, "...अब तक उपनिषदों पर लिखित सभी ग्रन्थों में यह सर्वश्रेष्ठ समझा जाएगा।"

महाराष्ट्र में सन्त ज्ञानेश्वर से लेकर सन्त रामदास आदि महान् सन्तों की एक उज्ज्वल परम्परा रही है। इन सन्तों का साहित्य परमार्थ और वाङ्मय दोनों ही दृष्टियों से श्रेष्ठ है। प्रो० रानडे ने महाराष्ट्र के सन्तों की रचनाओं में से प्रमुख वचनों का संकलन करके 'वचनामृत' के पाँच

भाग प्रसिद्ध किये 'Mysticism in Maharashtra'* इन संकलित वचनों पर आधारित एक पारमार्थिक भाष्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ रहस्यवाद (mysticism) का है। "Mysticism is a philosophy of God-realisation" (रहस्यवाद ईश्वर-साक्षात्कार का तत्त्वज्ञान है)। प्रो० रानडे ने जब अंडरहिलकृत 'Mysticism' ग्रन्थ पढ़ा, तब उन्हें यह शब्द अत्यन्त उद्बोधक और रोचक लगा। ग्रीक भाषा के mystes शब्द से mysticism शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। Mysticism में होंठ बन्द करना यह अर्थ समाविष्ट है। ब्रह्म का वर्णन शब्दों में करना असम्भव होने के कारण मुनि होंठ बन्द कर लेता है। इस ग्रन्थ में रानडे महोदय ने हमें महाराष्ट्र के सभी प्रमुख सन्तों की जीवनी, अपरोक्षानुभूतियों और उपदेशों से परिचित कराया है। इसके अलावा नाम-माहात्म्य के बौद्धिक, नैतिक तथा प्रातिभ पहलुओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। अपनी प्रस्तावना में कहते हैं, "Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, firsthand, intuitive apprehension of God.... Mysticism implies a silent enjoyment of God" (रहस्यवाद मन की उस अभिवृत्ति का द्योतक है, जिसमें ईश्वर का साक्षात्, अपरोक्ष और प्रातिभ दर्शन होता है।... रहस्यवाद का तात्पर्य है ईश्वर का शब्दातीत आनन्दोपभोग)। इस प्रकार प्रो० रानडे ने अपनी प्रस्तावना में रहस्यवाद की विस्तृत चर्चा की है, और वही इस ग्रन्थ

* 'Mysticism in Maharashtra', 3rd edn., published by Motilal Banarsidass, Delhi.

की आत्मा है। 'Mysticism in Maharashtra' यह ग्रन्थ सन् १९३३ में आर्यभूषण प्रेस आफिस, पूना द्वारा प्रकाशित हुआ। पूर्व और और पश्चिम की रहस्यानुभूतियों के साम्य का निर्देश भी इस ग्रन्थ का एक विशेष आकर्षण है। उस तुलनात्मक अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि बड़े-बड़े मनीषी एक ही तरह से सोचते हैं। अगर यह सही नहीं होता, तो रहस्यवादियों में जो मतैक्य हम यहाँ देखते हैं, वह न हो पाता। यह समानता दर्शाने से पूर्व और पश्चिम में परस्पर बन्धुत्व, सामंजस्य और प्रेम के निर्माण में सहायता मिलेगी। इस ग्रन्थ के द्वारा महाराष्ट्र की भक्ति-मन्दाकिनी को अँगरेजी भाषा में अलंकृत करके प्रो० रानडे ने देश-विदेश में पहुँचाने का कार्य किया है।

कह चुके हैं कि १९२७ में रानडे महोदय इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के प्रमुख के पद पर नियुक्त हुए और वे निम्बाल से इलाहाबाद आये। सन्त की पैनी दृष्टि हमेशा परमार्थ की खोज में लगी रहती है। इलाहाबाद में उन्होंने घर पर काम करने-वाले दरवान, चपरासी, नाई आदि से कबीर, सूरदास, तुलसीदास वगैरह सन्तों के कुछ पद सुने। उन्हें वे बहुत पसन्द आये। उन्होंने हिन्दी सन्तबानी का बारीकी से अध्ययन शुरू किया। उनके कुछ विद्यार्थियों और घनिष्ठ प्रोफेसरों ने उन्हें इस कार्य में मदद दी। हिन्दी सन्त-साहित्य से एक सौ पद और एक सौ दोहे चुनकर उन्होंने 'परमार्थ-सोपान' नामक पुस्तक लिखी। उसमें पद और दोहों का सरल अनुवाद है तथा उनकी टिप्पणियों का समावेश है। उस पर से उन्होंने 'Pathway to God in Hindi Literature' नामक पारमार्थिक भाष्य

लिखा। इस ग्रन्थ में पाँच विषय हैं:— (१) परमार्थ प्रेरणा, (२) नैतिक महत्त्व, (३) प्रभु का अपने भक्तों से सम्बन्ध, (४) पारमार्थिक यात्रा का प्रारम्भ तथा (५) साक्षात्कार के पथ पर सर्वोच्च आरोह। उन्होंने इन सोपानों के आधार पर हिन्दी सन्तों द्वारा बतलाये गये परमार्थ-प्राप्ति के साधनों का सुस्पष्ट वर्णन किया है। इन दोनों पुस्तकों का प्रकाशन अध्यात्म विद्या मन्दिर, साँगली से हुआ था। 'Pathway to God in Hindi Literature' की प्रस्तावना में वे कहते हैं, "It has been a long-cherished aim of the present writer to gather the multi-coloured flowers of the mystic garden, and to present a garland of them to the Lord" (वर्तमान लेखक की यह दीर्घकालव्यापी कामना रही है कि वह रहस्यवाद के बाग से रंग रंग के फूलों को इकट्ठा करे और उनकी माला बनाकर प्रभु को पहनाए)। इतने विशाल हिन्दी सन्त वाङमय के सागर से अर्थपूर्ण पदों के मोती चुनने का कार्य एक आत्मदर्शी सन्त ही कर सकता है। प्रो० रानडे ने यह कार्य सफलतापूर्वक किया है। उनकी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि, प्रकाण्ड पाण्डित्य और अन्य भारतीय भाषाओं के रहस्यवाद के ज्ञान-भण्डार से हिन्दी रहस्यवाद का यह ग्रन्थ चमत्कृत हो उठा है।

प्रो० रानडे कहते हैं कि यद्यपि सन्तों के काल भिन्न-भिन्न हैं और उनकी भाषाएँ अलग अलग, फिर भी उनकी आत्मानुभूतियों, नैतिक मूलतत्त्वों और उपदेशों में समानता है। उनमें वर्ण, जाति या राष्ट्रीयता गत भेदों के लिए कोई स्थान नहीं है। संसार के सभी आत्मदर्शियों के ग्रन्थ अमर हैं, क्योंकि उन्हें परतत्त्व का स्पर्श प्राप्त है। ये सभी

स्वर्गिक संगीतकार हैं, जो मिलकर एक पारमार्थिक सामगान प्रस्तुत करते हैं। हम यदि ध्यान से उसे सुनें तो हमें ज्ञान होगा कि उसके बीच प्रो०रानडे का आत्मसंगीत गूँज रहा है।

प्रो० रानडे के ग्रन्थ एक दृष्टि से उनका पारमार्थिक आत्मचरित्र हैं। एक बार श्री देवीप्रसाद शुक्ल के यहाँ रानडेजी पहुँचे। वहाँ पर श्री काटजू भी मौजूद थे। बात ही बात में श्री काटजू ने पूछा, "प्रो० रानडे अपना आत्म-चरित्र क्यों नहीं लिखते ?" झट से 'Pathway to God in Hindi Literature' पर हाथ रखकर शुक्लजी ने कहा, "यह रहा उनका आत्म-चरित्र।"

जब प्रो० रानडे इलाहाबाद में थे, उन्हें नागपुर विश्वविद्यालय ने १९२८ में भगवद्गीता पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। खिखेडे व्याख्यानमाला के अन्तर्गत उन्होंने तीन भाषण दिये। उनमें उन्होंने मुख्य रूप से यह प्रतिपादित किया कि गीता का सन्देश आत्म-साक्षात्कार है। बाद में इन्हीं भाषणों को परिवर्धित करके उन्होंने 'The Bhagavad-Gita as a Philosophy of God-Realisation' यह ग्रन्थ लिखा। १९२७ में पूना में रानडे महोदय पाश्चात्य दार्शनिक श्री ऑटो से मिले। दोनों में भगवद्गीता पर काफी चर्चा हुई। प्रो०रानडे ने श्री ऑटो के 'The Idea of the Holy' नामक ग्रन्थ की अपनी पुस्तक में सराहना की है। रानडेजी प्रत्येक मनीषी के उत्तम विचारों को गौरव और सम्मान प्रदान करते थे। आलोचना या अपमान करना उनके स्वभाव में ही न था। दूसरों के मतों की जानकारी लेकर अपना मत दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करने की उनमें एक अनोखी खूबी थी।

काण्ट की भव्यता (Sublime), ऑटो की परम पवित्रता (The Holy) और रानडे महोदय की प्रातिभ अनुभूति (Intuitional Divine Power) इन तीनों में साम्य दिखाई देता है।

गीता-व्याख्यानों के अगले साल यानी १९२९ में उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय से बसुमल्लिक व्याख्यान-माला के अन्तर्गत 'The Vedanta Philosophy' पर भाषण देने के लिए बुलौवा आया। इन व्याख्यानों के नोट्स के आधार पर रानडेजी के पश्चात् उनके प्रोफेसर शिष्यों ने एक ग्रन्थ का लेखन-कार्य पूरा किया, जिसका शीर्षक है, **'Vedanta : The Culmination of Indian Thought'**। इस प्रकार रानडे महोदय प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने में सफल हुए।

'Pathway to God' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत हिन्दी और मराठी सन्त-कवियों पर भाष्य लिखने के बाद रानडेजी कर्नाटक के सन्त-साहित्य की ओर आकृष्ट हुए। कन्नड़ उनकी गुरुभाषा थी, जिसे उन्होंने श्रद्धापूर्वक आत्मसात् किया। कन्नड़ सन्तों की कई रचनाएँ कालप्रवाह से लुप्त-सी हो गयी थीं, उन्हें रानडेजी ने अपने **'Pathway to God in Kannada Literature'** नामक ग्रन्थ में स्थान देकर पुनर्जीवित किया है।

जैसा कि हमने पूर्वग्रन्थों में देखा, रानडे महोदय का प्रतिपाद्य विषय है ईश्वर-साक्षात्कार का तत्त्वज्ञान **(Philosophy of God-Realisation)**, और वही इस ग्रन्थ का भी प्रमुख प्रतिपाद्य है। जहाँ तक आत्मानुभूति का प्रश्न है, रानडेजी की दृष्टि में कर्नाटक के सन्तों ने संसार के सभी सन्तों में एक विशेष स्थान प्राप्त किया है।

वे कहते हैं, "We may say that in many respects they stand even on a higher level" (हम कह सकते हैं कि कई बातों में वे कहीं ऊँचे धरातल पर स्थित हैं)। इनके स्पष्टीकरण में रानडेजी ने 'Cumulative Mystical Experience' और 'Supernal Experience' ये दो अध्याय लिखे हैं। इसमें कनकदास का वैकुण्ठ-दर्शन, नागलिंग का अमृतानुभव और स्थिरमुक्ति, महीपति के बारह अनहत नाद, पुरन्दरदास की मोतियों की वर्षा की अनुभूति, बसवेश्वर का शरीर के रोम-रोम का आँख बनकर ईश्वर की छबि देखने का अनुभव तथा अन्य कई सन्तों की अनेकानेक अतीन्द्रिय अनुभूतियों का समावेश है। इसके साथ ही उनके स्वयं के जीवन की प्रमुख घटनाएँ, उपदेश और बाकी सन्तों से किये गये तुलनात्मक निर्देश इस ग्रन्थ की महानता को वृद्धिगत करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रो० रानडे के द्वारा कर्नाटक यूनिवर्सिटी में दी गयी व्याख्यानमाला पर आधारित है। सन् १९५० के पश्चात् समय समय पर दिये गये उनके चौदह व्याख्यान इस ग्रन्थ में संग्रहित हैं। उसके बाद और भी छह व्याख्यान देने का उनका मानस था। व्याख्यान के नोट्स भी तैयार थे; लेकिन दुर्भाग्य से उनका जीवन-सूर्यास्त उसके पूर्व ही हो गया। बाद में उनके प्रोफेसर शिष्यों ने उन छह व्याख्यानों को विस्तार से लिखकर यह ग्रन्थ पूरा किया। सन् १९६० में भारतीय विद्या भवन, बम्बई ने इसका प्रकाशन कर यह बहुमूल्य पुस्तक पाठकों तक पहुँचायी।

इन ग्रन्थों के अलावा रानडे महोदय का 'Pathway to God in World's Philosophy and Religion' नाम से एक ग्रन्थ लिखने का मानस था। इसके द्वारा वे यह

व्यक्त करना चाहते थे कि सारे संसार में एक विश्वधर्म प्रस्थापित किया जा सकता है। लेकिन उनकी यह मनीषा पूरी न हो सकी। फिर भी उन्होंने जो ग्रन्थ संसार को दिये हैं, वे अत्यन्त ठोस, परिपक्व, बहुमूल्य और बहुत प्रेरणादायक हैं। जीवन भर ग्रन्थ-लेखन ही करते रहना उनका ध्येय नहीं था, किन्तु ध्यान-धारणा के पश्चात् जो समय बचता, उसमें आध्यात्मिक लेखन के द्वारा वे पुनः ईश्वरोपासना करते थे। वह उनकी सगुणोपासना थी। निर्गुणोपासना में उन्होंने जो आनन्द प्राप्त किया, उसका एवं परमार्थ-पथ का सुस्पष्ट विवेचन उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। उनके ग्रन्थ संसार के सभी साधकों का आदर्श मार्गदर्शन करने में सहायक सिद्ध होंगे, फिर वे किसी भी देश, धर्म या पंथ के ही क्यों न हों।

रानडे महोदय के सभी ग्रन्थ महान् हैं, फिर भी 'A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy' और 'Mysticism in Maharashtra' उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य के साक्षी हैं; इसी प्रकार 'Pathway to God in Hindi Literature' और 'Pathway to God in Kannada Literature' भक्तिप्रधान हैं। 'Bhagavad-Gita as a Philosophy of God-Realisation' उनकी आध्यात्मिकता का परिपक्व फल है, जिसमें उनका अमर सन्देश निहित है।

आत्म-साक्षात्कार मनुष्य-जीवन का चरम ध्येय है। नाम-स्मरण उसे प्राप्त करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। नाम-स्मरण में मनुष्य का आन्तरिक भाव अत्यन्त जरूरी है। रानडेजी कहते हैं, "Bhava means unexplained and inexplicable 'love of God" (भाव का

अर्थ है ईश्वर के प्रति अनिर्वचनीय प्रेम)। अपना अहंकार त्यागकर 'जो प्रभु कीनो सो भल मानो', ऐसा शरणागति का भाव लेकर साधक को ईश्वर-चिन्तन करना चाहिए। रानडे महोदय का कहना था कि सारे संसार में विश्व-शान्ति और प्रेम तभी प्रस्थापित होगा, जब पूरा मानव-समाज आत्मतत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करने लगेगा।

O

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकात :—
गोलापसुन्दरी देवी

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के एक न्यासी तथा प्रशासी-मण्डल के एक सदस्य होते हुए उसके सहायक सचिव हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जहाँ से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक स्वामी श्रीकरानन्द रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं।——स०)

यह १९१२ ईसवी के अन्तिम भाग की घटना है। श्री माँ सारदा देवी तब रमापुरा, वाराणसी में 'लक्ष्मी-निवास' में ठहरी हुई थीं। उनकी निर्दोष पवित्रता, सबको अपना लेनेवाली करुणा तथा पूर्ण निःस्वार्थता के भाव ने उनके व्यक्तित्व को कौमार्य की कोमलता और मधुरता, सूक्ष्म गरिमा और शान्त महिमा से भर दिया था, पर इसके साथ ही उनमें एक छोटी बच्ची की सी सरलता और निर्मलता भी थी। एक दिन कुछ महिलाएँ उनके दर्शन के लिए आयीं। श्री माँ के साथ गोलापसुन्दरी भी थीं। उनके भव्य व्यक्तित्व को देख आगन्तुक महिलाओं की प्रमुख उन्हें ही श्री माँ समझ उनको प्रणाम करने के लिए आगे बढ़ीं। (चूँकि सारदादेवी में किसी प्रकार का आडम्बर या प्रदर्शन का भाव नहीं था, इसलिए अकसर लोग उन्हें सामान्य महिला समझने की भूल कर बैठते थे। श्रीरामकृष्ण ने एक बार विनोद में उनके सम्बन्ध में कहा

था, 'वह राख से लिपटी छिपी बिल्ली है' ।) आगन्तुक महिला की भूल समझते हुए गोलापसुन्दरी ने श्री माँ की ओर संकेत किया । तब श्री माँ के पास जाकर वह साष्टांग प्रणाम करने ही वाली थी कि श्री माँ ने विनोद के भाव में कहा, "नहीं, नहीं, वही श्री माँ है ।" अब तो पूरी तरह से भ्रमित हो उस महिला ने पहले के समान गोलापसुन्दरी के पास जाकर उन्हें प्रणाम करना चाहा । इस पर रुष्ट हो गोलापसुन्दरी ने अपने स्वाभाविक तीखे स्वर में उस महिला से कहा, "क्या दैवी और मानवी चेहरे में भेद नहीं समझ सकती हो ।"[1] ऐसी थीं गोलापसुन्दरी—भव्य व्यक्तित्ववाली और आध्यात्मिक रूप से उन्नत, फिर भी नम्र और सरल, परन्तु साथ ही ऐसी स्पष्टवादिता से भी युक्त जो अत्यन्त तीखी भी हो सकती थी ।

भगिनी देवमाता (लॉरा ग्लेन) ने एक जगह लिखा है—'गोलाप-माँ ऊँचे कद की पुष्ट देहवाली, संरक्षणशील, कट्टर धार्मिक और किसी प्रकार का समझौता न करनेवाली महिला थीं । श्री माँ की देखभाल वे दादी-माँ जैसा करतीं तथा उन्हें आगन्तुकों की भीड़ से बचातीं, उनको सुरक्षित रखतीं, यहाँ तक कि उनको उनकी जात-पाँत की ओर बढ़ती लापरवाही और विदेशी सन्तानों के साथ उनका अधिक निकटता का व्यवहार देख झिड़क भी देतीं ।'[2] मजबूत शरीर तथा चौकन्नी आँखोंवाली गोलापसुन्दरी

१. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्री माँ सारदादेवी' (कलकत्ता : उद्बोधन, पंचम सं.), पृ० ३२२ ।

२. भगिनी देवमाता : 'Days in an Indian Monastery' (१९२७), पृ० २७८ ।

का व्यवहार यद्यपि कुछ शंकित-सा होता, पर तो भी छू लेनेवाला होता।

१८६४ में उत्तरी कलकत्ते के एक कट्टर धार्मिक परिवार में जन्मी गोलापसुन्दरी देवी का लालन-पालन कट्टर धार्मिक परम्परा में हुआ था, तथापि उन्होंने उदार विचारों को पसन्द करना भी सीख लिया था। उनका पारिवारिक नाम अन्नपूर्णा देवी[३] था, पर गोलाप के नाम से ही वे जानी जाती थीं। उनका वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं था, एक पुत्र और एक पुत्री होने के बाद उनके पति का युवावस्था में ही देहान्त हो गया था। दुःख के प्याले को और भरने के लिए छोटा पुत्र भी इसके शीघ्र बाद कालकवलित हो गया। उनकी एकमात्र अत्यधिक सुन्दर पुत्री चण्डी का विवाह पाथुरियाघाटा, कलकत्ता के सौरीन्द्र मोहन टैगोर से हुआ था, जो एक सम्भ्रान्त और कुलीन वंश के जमींदार थे तथा जिन्हें राजा की उपाधि मिली हुई थी। वे सुखपूर्वक कभी-कभी अपने दामाद के पास रहतीं, जो उनका बहुत ख्याल रखते।[४] जब भी बेटी अपनी माँ के घर आती, तो उसके वर्दीधारी रक्षक होते। यह देख माँ की छाती गर्व से फूल उठती। पर तभी बेटी की भी मृत्यु हो गयी और गोलापसुन्दरी के दुःख का पारावार न रहा। उनका एक प्रकार से ऐसा कोई न रहा, जिसे वे अपना कह सकतीं। एक

---

३. ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य : 'श्रीश्रीसारदादेवी' (बँगला) (कलकत्ता, प्रथम संस्करण), पृष्ठ २५, फुटनोट।

४. अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि' (बँगला) (कलकत्ता, उद्बोधन, सप्तम संस्करण), पृष्ठ ४११।

के बाद एक होनेवाली इन दुःखदायी मौतों से उनका अपने आप से विश्वास डिग गया तथा जीवन अन्धकारमय भविष्य की कालिमा से शोचनीय हो उठा।

पर इससे एक लाभ यह हुआ कि इन विछोहों ने गोलाप को अपना ध्यान अपने आन्तरिक जीवन की ओर मोड़ने के लिए बाध्य किया। नितान्त असहायता की दशा में उन्होंने भगवान् की ओर कुछ राहत पाने के लिए ताका तथा आन्तरिकता के साथ प्रार्थना की। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी प्रार्थना व्यर्थ नहीं गयी, क्योंकि सान्त्वना खोजते समय उनकी भेंट बागबाजार के बगल में रहनेवाली योगीन्द्र मोहिनी से हो गयी। बलराम बोस की दूर की रिश्तेदार योगीन्द्र मोहिनी का सौभाग्य था कि १८८३ में दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण से उनकी भेंट हो चुकी थी। उन्होंने तब दक्षिणेश्वर के ईश्वरोन्मत्त सन्त श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में गोलाप को बतलाया तथा निश्चय किया कि वे गोलाप को श्रीरामकृष्ण से मिलाने ले जाएंगी, जिससे उन्हें मानसिक शान्ति मिल सके। वे लोग आशा लेकर १८८५ के पहले भाग में एक सुखद प्रातःकाल दक्षिणेश्वर के लिए रवाना हुईं।

जैसा कि श्रीरामकृष्ण का स्वभाव था, उन्होंने नवागन्तुकों का स्वागत किया। वास्तव में, गोलापसुन्दरी यह जानकर अचरज से भर उठी, जब उन्हें यह पता लगा कि श्रीरामकृष्ण काली-मन्दिर के रास्ते पर टहलते हुए एक प्रकार से उन लोगों की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। औपचारिक परिचय के बाद गोलाप ने अपने भीतर जमे हुए दुःख को उनके सामने निवेदित कर दिया। अपनी बेटी चण्डी की याद करते करते उसकी आँखों से आँसुओं की

झड़ी लग गयी । श्रीरामकृष्ण ने उनकी पीड़ा की गहराई को समझा । उनके समस्त हावभाव से गोलाप के लिए करुणा अभिव्यक्त होने लगी । पीड़ा की संवेदना श्रीराम-कृष्ण के भीतर से एक अपूर्व रूप में फूट पड़ी । वे हँसने लगे, नृत्य करने लगे और कहने लगे कि वह कितनी भाग्यवान् है, जो एकमात्र भगवान् को छोड़ अब उसका ध्यान खींचने-वाला और कोई नहीं है तथा भगवान् ही उसके एकमात्र त्राता हैं और इस प्रकार मौतों का यह दुःखदायी क्रम उसके लिए एक तरह से छिपा हुआ वरदान ही साबित हुआ है, जिसने उसके लिए आध्यात्मिक साधना का जीवन खोल दिया है । जिस प्रकार सर्प का काटा मनुष्य मंत्र से पुनः चैतन्यवान् हो उठता है, उसी प्रकार दुःखी ब्राह्मणी श्रीरामकृष्ण के इस पावन सान्निध्य से एकदम भीतर तक चौंक गयी । अब वह अपने दुःख को झटक फेंकने में समर्थ हो गयी । लगभग मंत्रमुग्ध-सी वह श्रीरामकृष्ण के पीछे पीछे उनके कमरे में पहुँची, जहाँ श्रीरामकृष्ण ने दिव्य-भाव में आरूढ़ हो गाना शुरू किया——

(भावार्थ) मन अपने घर चलो । संसार-बिदेश में विदेशी के वेश में क्यों वृथा भटक रहे हो ? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय और क्षिति, आप, तेज, मरुत्, आकाश ये पाँच भूत कोई भी तेरे नहीं हैं, सभी पराये हैं । पराये प्रेम से अचेतन होकर क्यों तुम अपने जन को भूल रहे हो ? हे मन, सत्य पथ पर आरोहण करो, प्रेम का दीपक जलाकर सदा उस पथ पर चलते जाओ, साथ में भक्तिरूप धन को बहुत यत्न से छिपाकर रख लो । लोभ, मोह आदि उस पथ के डाकू पथिक का सब कुछ छीन लेते हैं । इसी कारण कहता हूँ—हे मन, शम (मन का संयम)

और दम (बाहरी इन्द्रियों का दमन) इन दोनों को पहरे-दार रखो। साधु-संग नामक पान्थ-निवास उस पथ में है, थक जाने पर वहाँ विश्राम लेना, पथ-भ्रम होने से उस पान्थधाम के निवासियों से रास्ता पूछ लेना। यदि पथ में भय की आकृति दिखाई पड़े तो प्राणपण से राजा की दुहाई देना। उस पथ पर राजा का प्रबल प्रताप है, जिनके शासन से यमराज भी डरते हैं।[५]

गाने का मर्म श्रीरामकृष्ण की मधुरवाणी से जिस प्रकार प्रकट हुआ, वह ब्राह्मणी के अन्तस्तल में भीतर तक भिद गया। इससे उसके दुःख के बादल छँट गये और भीतर का गहन अन्धकारमय भाग आलोकित हो उठा। गोलाप ने तब श्रीरामकृष्ण से माया के मोहपाश से रक्षा के लिए प्रार्थना की। इससे भी अधिक उसने भगवान् के प्रति सच्ची भक्ति की याचना की। इससे श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हुए। वे सहज ही ब्राह्मणी की आध्यात्मिक लगन और सम्भावनाओं को जान गये थे। अब श्रीरामकृष्ण के प्रेरक उपदेश लगभग अधमरी-सी ब्राह्मणी के भीतर की सुप्त शक्तियों को जगाने का कार्य करने लगे और उनकी कृपा से ब्राह्मणी के हृदय-कक्ष के पट खुल गये, जिससे भक्ति का मलय-पवन[६] उसमें मुक्त भाव से आ सके। नौबतखाने में सारदादेवी से उसका परिचय कराते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "इसको पेट भर खिलाना। उससे इसके दुःख का शमन होगा।" उन्होंने श्री माँ से यह भी

५. श्री 'म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा. १ (रामकृष्ण मठ, नागपुर, तृतीय संस्करण), पृ० ३२७।

६. 'पुंथि' (बँगला), पृ० ४१२-१३।

कहा, "इस ब्राह्मणी का ख्याल रखना। यह परछाईं की भाँति तुम्हारे साथ जीवन भर रहेगी।" यह एक ऐसी भविष्यवाणी थी, जो बाद में अक्षरशः सच हुई थी।

परवर्ती जीवन में गोलाप ने श्रीरामकृष्ण के साथ अपनी पहली भेंट का वर्णन किया था। ज्योंही उसने श्रीरामकृष्ण के पास अपनी व्यथा जतायी, उन्होंन उसकी पीठ थपथपायी। इससे मानो उसके समस्त दुःख दूर हो गये। इसका गोलाप पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। किसी आत्मज्ञानी की तरह अपने दुःखों को उसने हँसी में उड़ा दिया। उसे हठात् ऐसा लगा कि मानव-जीवन मंच पर किये जा रहे किसी नाटक की तरह है। फिर कौन किसकी माँ है और कौन किसकी पुत्री? अपने ऐसे बनावटी नुकसान के लिए वह क्यों रोये? यथार्थ सार तो ईश्वर के लिए ही रोने में है।[७]

इस घटना के बाद के कुछ दिनों ने उसे बार बार अपने घर बागबाजार से शान्ति पाने की इच्छा से दक्षिणश्वर भागते देखा। रविवार, १३ जून १८८५ को वह श्रीरामकृष्ण के कमरे के उत्तर दिशावाले दरवाजे के बाहर खड़ी थी। वहाँ से उसने श्रीरामकृष्ण को राम मल्लिक के भतीजे की मृत्यु पर हुए उसके दुःख का वर्णन करते हुए सुना। ठाकुर अपनी अनूठी शैली में कह रहे थे—

"वास्तव में ईश्वर ही एकमात्र सत् है और बाकी सब असत्। मनुष्य, जगत्, घर, बच्चे—ये सब जादूगर के इन्द्रजाल जैसे हैं...। जादूगर यथार्थ है, पर उसका

७. 'श्रीरामकृष्ण स्मृति' (बंगला) (लक्ष्मीमणि देवी एवं मोयीन्द्र मोहिनी विश्वास द्वारा) (कलकत्ता : उद्बोधन, ततीय संस्करण), पृ० ३२।

इन्द्रजाल मिथ्या है। असत् क्षण भर के लिए दिखता है, फिर लुप्त हो जाता है... । ईश्वर का ही एकमात्र अस्तित्व है, बाकी सब मिथ्या है। जल ही सत्य है; परन्तु उसके बुलबुले दिखते हैं और गायब हो जाते हैं। वे उसी जल में, जिससे वे निकलते हैं, फिर लुप्त हो जाते हैं। ईश्वर सागर की तरह है और जीव-जन्तु उसके बुलबुले हैं। वे उसी में जन्मते हैं और उसी में मर जाते हैं। बच्चे उन छोटे छोटे बुलबुलों जैसे हैं जो किसी एक बड़े बुलबुले के आसपास जमा रहते हैं। ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। उनके प्रति प्रेम पैदा करने की चेष्टा करो और उनको पाने के साधन को खोजो। दुःख करने से तुमको क्या मिलेगा ?"[८]

श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का गोलाप पर शान्तिदायक प्रभाव पड़ा था। वास्तव में, उसका समूचा व्यक्तित्व उनके उपदेशों की जीवन्त सत्ता से रोमांचित हो उठा था। उसने अपने को संयमित किया तथा घर को लौटने के लिए तत्पर हुई। जून का महीना था, लगभग ३ बजे थे। श्रीरामकृष्ण ने स्नेह से कहा, "तुम अभी जाना चाहती हो ? अभी तेज गरमी है। अभी क्यों ? बाद में भक्तों के साथ गाड़ी में चली जाना।" श्रीरामकृष्ण के ऐसे करुणापूर्ण व्यवहार ने उसके मर्म को छू लिया।

गोलाप के भीतर की पारिवारिक जीवन के बन्धनों और परेशानियों से दूर कहीं तीर्थ में जाने की मनोकामना अब दक्षिणेश्वर में तृप्त हो रही थी। शीघ्र ही वह श्री माँ की अन्तरंग संगिनी हो गयी और यदा-कदा वहीं

८. 'वचनामृत', भा. ३, द्वितीय संस्करण, पृ. १७८।

नौबत में उनके साथ रुक जाती। बहुत थोड़े खर्च में घर-गृहस्थी को कुशलता से श्री माँ को चलाते देख वह सोचने लग जाती कि किस प्रकार इन्हीं सब कार्यों के लिए वह यह सोचकर कितना अधिक खर्च कर डालती थी कि और कोई उपाय नहीं है, जबकि वे सारे कार्य बहुत सरलता से थोड़े में किये जा सकते थे। गोलाप ने अपनी घर-गृहस्थी के छोटे छोटे कामों के लिए भी सारदादेवी के आडम्बरशून्य जीवन से प्रेरणा ली।

अपने दुःखों से छुटकारा पाने की निषेधात्मक प्रवृत्ति के बदले अब उसमें श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी के आकर्षण और लगाव की विधेयात्मक प्रवृत्ति घर कर रही थी। बार बार आग्रह करने पर श्रीरामकृष्ण उसके बागवाजार के नेबूबागान में स्थित पुराने, जर्जरित ईंटों के मकान में २८ जुलाई १८८५ को पधारे थे। उसके एक बहन थी, वह भी विधवा थी तथा भाई लोग भी अपने परिवार के साथ उसी मकान में रहते थे। गोलाप पूरे दिन श्रीरामकृष्ण के स्वागत की तैयारी में बहुत व्यस्त रही। श्रीरामकृष्ण के आगमन में विलम्ब होता देख वह नन्द बोस के यहाँ पता लगाने पहुँची।

वहाँ से शीघ्र लौटकर जब वह घर आयी तो देखा कि श्रीरामकृष्ण भक्तों से घिरे हास्यमुख बैठे हुए हैं। गोलाप ने पहुँचकर ठाकुर को प्रणाम किया। वह आनन्द से इतनी विह्वल हो उठी कि उसे कुछ समझ ही नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे या करे। "यह आनन्द मेरे लिए बहुत अधिक है, कहीं मैं मर न जाऊँ," वह बोल उठी। "अरी, देख, इतना आनन्द मैं कहाँ रखूं?—बताओ री—जब मेरी चण्डी आती थी, सिपाहियों को साथ

लेकर, और वे लोग रास्ते पर पहरा देते थे, तब भी तो मुझे इतना आनन्द नहीं हुआ—अरी, अब मुझे चण्डी का दु:ख जरा भी नहीं है।...जाऊँ, सबसे कहूँ, तुम आकर मेरा सुख देख जाओ।" —मारे आनन्द से अधीर होकर ब्राह्मणी फिर कहने लगी—"खेल (लाटरी) में एक रुपया लगाकर किसी कुली को एक लाख रुपये मिले थे। एक लाख रुपये मिले हैं सुनकर मारे आनन्द के वह मर गया था!—अरी! मेरी भी तो वही दशा हो गयी है। तुम सब लोग आशीर्वाद दो, नहीं तो मैं भी सचमुच मर जाऊँगी।" सचमुच, गोलाप बाइबिल की मेरी के समान ही धन्य हुई थी, क्योंकि दोनों ने ही प्रभु के चरणों में बैठने का 'उत्तम काम' चुना था। बाद में महेन्द्रनाथ गुप्त से इन दोनों भक्त महिलाओं के चरित्र की नजदीकी समानता के सम्बन्ध में सुनकर श्रीरामकृष्ण आनन्दित हुए थे।

गोलाप के दु:खों को दूर करने की दृष्टि से श्रीरामकृष्ण ने एक दिन उसे अपने रात के भोजन की थाली लाने के लिए कहा। यह उन कुछ सेवा-कार्यों में से एक था, जिस पर श्री माँ का एकाधिकार था, परन्तु गोलाप का इस तथ्य की ओर कभी ध्यान नहीं गया। वह प्राय: श्रीरामकृष्ण को खिलाने में काफी समय व्यतीत करती और नौबत देरी से लौटती। श्री माँ को इस कारण गोलाप के साथ भोजन हेतु लम्बी देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती। सम्भवत: इससे श्री माँ परेशान हो उठी थीं। जब श्रीरामकृष्ण ने गोलाप का ध्यान इस ओर खींचा, तो उसने सरल भाव से उत्तर दिया, "नहीं तो, माँ मुझे बहुत चाहती हैं, और अपनी बेटी जैसी समझती हैं। वे तो

मुझे पहले नाम से ही पुकारती हैं।" इस प्रकार सरलता और असंवेदनशीलता का विचित्र मेल उसमें सर्वदा दिखाई देता, जो उसके स्वभाव का ही एक अंग बन गया था।

गोलाप के आध्यात्मिक जीवन का कोमल पौधा दक्षिणेश्वर के अनुकूल वातावरण में क्रमशः विकसित हो विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हुआ था। वहाँ उसने देवतुल्य श्रीरामकृष्ण को पाया था, जो यद्यपि संसार में रहते, पर पूरी तरह से उससे निर्लिप्त थे। वे सर्वदा ईश्वरीय भाव में मग्न रहकर नाचते, गाते और समाधि में डूब जाते। हम कह चुके हैं कि वह धीरे धीरे श्री माँ से बहुत अधिक घनिष्ठ हो गयी थी और यह श्रीरामकृष्ण के समीप आश्रय पाने की अपेक्षा कम महत्त्व की बात नहीं थी। गोलाप से श्रीरामकृष्ण ने सारदादेवी के सम्बन्ध में बतलाते हुए एक दिन कहा था, "वह सरस्वती है। उसने लोगों को ज्ञान देने के लिए मानवी तनु धारण किया है, परन्तु अपने दिव्य सौन्दर्य को वह छिपाकर आयी है, जिससे उसे देखकर लोगों के मन में किसी प्रकार का कलुषित विचार न उठे।"[९]

श्रीरामकृष्ण ने गोलाप का समस्त भार उठा लिया था।[१०] उनके उपदेश गोलाप के अन्तस्तल की गहराइयों में पैठकर उसके भीतर ऐसा परिवर्तन लाते, जो जैसा

---

९. स्वामी निखिलानन्द: 'Holy Mother' (न्यूयार्क, रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र), पृ० ७९।

१०. वैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्णलीलामृत' (बंगला) (कलकत्ता : एस.एन. सान्याल, द्वितीय संस्करण), पृ० ३६६।

विलक्षण होता वैसा ही सम्पूर्ण भी। आध्यात्मिक उपदेश के अलावा, कई अलौकिक घटनाओं ने भी उसके भीतर के विश्वास को और मजबूत बना दिया था। एक दिन दोपहर को श्रीरामकृष्ण को भोजन कराते समय गोलाप यह देख भौंचक्की हो गयी कि श्रीरामकृष्ण के मुख के भीतर फन उठाता एक साँप प्रत्येक कौर को निगलता जा रहा है। श्रीरामकृष्ण देव के द्वारा इस अनुभव की स्वीकृति और स्पष्टीकरण से गोलाप को और अधिक आलोक मिला।[११] शास्त्रों में इस प्रकार से भोजन करने को कुण्डलिनी शक्ति को आहुति देना कहा गया है।

एक अन्य दिन गोलाप ने श्रीरामकृष्ण को मन्दिर के उत्तरी बरामदे में भावावस्था में टहलते हुए देखा। उसने स्पष्ट देखा कि वहाँ श्रीरामकृष्ण नहीं मानो जगन्माता ही ही घूम रही हैं। यह रोमांचकारी अनुभव था।[१२]

सारदादेवी के सान्निध्य में रहना मानो व्यावहारिक धर्म को समझना था। गोलाप ने भक्ति और समर्पण के भाव से श्री माँ की गृहस्थी की कई जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर ले ली थीं। सारदादेवी का बाह्य व्यवहार ऐसा था कि अपनी गृहस्थी में वे दूसरों की नजरों से सबसे अधिक ओझल रहनेवाली सदस्या थीं, तथापि उनकी उस सादगी

---

११. स्वामी सारदानन्द: 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा. २ (रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण), पृ० ३७० तथा स्वामी अरूपानन्द : 'श्रीश्रीगोलाप-माता (उद्बोधन, भा. २७, सं. १), पृ० ४९।

१२. स्वामी सारदानन्द : 'भगवान श्रीश्रीरामकृष्ण' (कलकत्ता : उद्बोधन), पृ० १०।

के पीछे उनका भव्य व्यक्तित्व था। उनकी गृहस्थी में प्रेम और पावनता का वातावरण व्याप्त रहता। वहाँ रहने-वाले जागरूक साधक शीघ्र ही अनुभव करने लगते कि धर्म सहज, मधुर और आनन्ददायक वस्तु है; पवित्रता और सन्तत्व ऐसे सत्य हैं, जिनको मानो छुआ जा सकता है; वे यह भी अनुभव करते कि मधुर सुगन्ध की तरह पावनता उनके स्वार्थ की दुर्गन्ध को दूर कर दे रही है। इस प्रकार, पूरी तरह गृहस्थ का जीवन जीते हुए, विपरीत स्वार्थों की युद्धस्थली के बीच संघर्ष करते हुए, गोलाप ने अपने कर्तव्यों का पालन करना इस प्रकार सीख लिया था, जिससे वे उसके ईश्वर-प्रेम में बाधा न बनें। वह पाँकाल मछली की भाँति थी, जो पंक में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहती है, या उस पनडुब्बी पक्षी की तरह थी, जो पानी में गोता लगाने के बाद अपने पंखों को एक बार फड़फड़ाकर सारा पानी झड़ा देता है। उसकी इस कर्म-कुशलता पर अन्य किसी ने नहीं बल्कि श्री माँ ने स्वयं प्रामाणिकता की मुहर लगायी थी। उन्होंने गोलाप के सम्बन्ध में कहा था, "गोलाप जब भी कोई काम करती है, तो उसे पूरा मन लगाकर करती है, मानो वह जप या ध्यान कर रही हो—ऐसी गहरी उसकी मानसिक लगन रहती है।"[१३]

ध्यान करने में पटु गोलाप आध्यात्मिक अनुभूति की ऊँचाइयों पर पहुँची थी। एक बार माँ सारदा ने कहा था, "गोलाप और योगेन ने कितना जप और ध्यान

१३. 'वेदान्त केसरी', जुलाई १९५४, पृ० ७०।

किया है। गोलाप ने जप द्वारा सिद्धि प्राप्त कर ली है।"[१४] गोलाप ने स्वयं ही स्वीकार किया था, "श्री ठाकुर की कृपा से मुझे अपनी इष्ट भगवती तारा का ध्यान में प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुआ था।"[१५] और श्री माँ ने कहा था, "यह उसका अन्तिम जन्म है।"[१६]

इस प्रकार की कठोर साधना के अलावा उसने श्रीरामकृष्ण की अहैतुकी कृपा भी अनायास पायी थी। ऐसी ही एक कृपा २३ दिसम्बर, १८८५ को काशीपुर उद्यान में हुई थी। भक्त के प्रति करुणा से भरकर श्रीरामकृष्ण ने भावावस्था में अपने श्रीचरणों से गोलाप के हृदयस्थल का स्पर्श कर दिया था। गोलाप ने तब आनन्द से भरकर अजस्र आँसू बहाये थे और उसका आध्यात्मिक जीवन घनीभूत हो उठा था।[१७]

गोलाप श्यामपुकुर में और उसके बाद काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण की अन्तिम बीमारी के समय उनकी सेवा में सहायता करने के लिए श्री माँ के साथ थी। कैंसर की घातक बीमारी से श्रीरामकृष्ण ने १६ अगस्त, १८८६ को लीलासंवरण कर लिया, पर वे सूक्ष्मरूप से तब भी भक्तों की देखभाल और रक्षा कर रहे थे। गोलाप अब श्री माँ पर पहले से अधिक आश्रित हो

१४. स्वामी माधवानन्द और आर. सी. मजूमदार द्वारा सम्पादित 'Great Women of India' (कलकत्ता : अद्वैत आश्रम, १९५४), पृ० ४५१।

१५. 'श्रीरामकृष्ण स्मृति', पृ० ३२।

१६. 'Great Women of India', पृ० ४५२।

१७. 'वचनामृत', भाग ३, पृ० ४३६।

गयीं । चूँकि श्री माँ का आदर्श अपने पति और उनके लक्ष्य से सम्पूर्ण एकरूपता का था इसलिए गोलाप की आध्यात्मिक साधना अविचलित भाव से चलती रही ।

वास्तव में, गोलाप ने छत्तीस वर्षों तक — १९२० में श्री माँ की महासमाधि तक—उनकी उत्साहपूर्वक, समर्पित एवं असन्दिग्ध निष्ठा से सेवा की थी । वे श्री माँ की सदैव सतर्क रहनेवाली सेविका थीं और उनको भक्तों की बेमतलब हरकतों और मूर्खताओं से बचातीं । चाहे बेलुड़ मठ हो या बागबाजार का घर अथवा जयरामवाटी—सब जगह गोलाप को श्री माँ की निष्ठावान् सेविका के रूप में सेवा करते देखा जाता । श्री माँ जब भी कहीं पैदल जातीं, वे एक छोटी बच्ची के समान गोलाप की साड़ी का छोर पकड़कर चलतीं । वे कहा करतीं, "मैं गोलाप के बिना कहीं नहीं जा सकती । वह साथ में रहने से मुझमें हिम्मत रहती है ।"

कलकत्ता के उद्बोधन मठ का जीवन श्रीरामकृष्ण के पूजागृह और उनकी जीवन्त प्रतिनिधि श्री माँ को लेकर केन्द्रित था । यद्यपि भारतीय सन्तों और ऋषियों ने उस निराकार ब्रह्म की अनन्तता और अद्वितीयता का वर्णन किया है, तथापि गोलापसुन्दरी जैसी भक्त ने अपने दैनन्दिन जीवन में उस परम तत्त्व की आराधना करते समय उसे साकार एवं मूर्तरूप देने में कोई संकोच नहीं किया । इस प्रकार वे भीतर एवं बाहर के जगत् में, भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् में मेल बनाकर रखतीं; मूर्ति की पूजा उतनी ही यथार्थ एवं जीवन्त होती जितनी स्नेही माता-पिता की सेवा । घर-गृहस्थी के रोजमर्रा के काम इस प्रकार पूजा जैसे पावन बन गये थे ।

गोलाप की दिनचर्या बहुत सादी थी। उसके पीछे त्याग की वह प्रेरणा थी, जिसे श्रीरामकृष्ण ने उनके हृदय में अंकित कर दिया था। एक बार वे नाव द्वारा श्रीरामकृष्ण के संग कलकत्ता से दक्षिणेश्वर गयी थीं। गोलाप की माँ तथा अन्य भक्तगण भी साथ थे। गोपाल की माँ ने बलराम बोस के परिवार द्वारा प्रदत्त कुछ वस्तुओं को साथ में ले रखा था। श्रीरामकृष्ण ने गोलाप से कहा, "जो त्यागी है, उसे ही भगवत्प्राप्ति होती है। जो दूसरों के घर जाकर, भोजनादि करने के पश्चात् खाली हाथ लौटता है, वह भगवान् के अंग के सहारे बैठा करता है, मानो त्याग और समर्पण द्वारा भगवान् के पास हठपूर्वक जोर दे सकता है।"[१८] यद्यपि ये शब्द गोपाल की माँ के लिए कहे गये थे, पर उनका गोलाप पर बहुत जोरदार प्रभाव पडा।

निस्संकोची, शुष्क और स्पष्टवादी गोलाप-माँ, जैसा कि भक्त लोग उन्हें पुकारते थे, को समझने में लोग कभी-कभी भूल कर बैठते थे। पर उस बाह्य शुष्क आवरण के भीतर उनका सेवा के प्रति अथक पूर्णता का भाव और गहरी लगन होती। उनकी स्पष्टवादिता, उदारता और व्यापक दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए श्री माँ ने एक बार कहा था, "गोलाप का मन बहुत शुद्ध है; वह कभी विचलित नहीं होता। वह नहीं जानती कि अहंकार या दम्भ क्या है।"[१९] श्री माँ ने एक बार और कहा था, "गोलाप का मन बहुत शुद्ध है। एक बार, वृन्दावन में रहते समय, माधवजी के मन्दिर का प्रांगण किसी बच्चे ने गन्दा कर दिया था। गोलाप ने यात्रियों

१८. 'लीलाप्रसंग', भा. ३, पृ० ४७८।

१९. 'Holy Mother', पृ० ६१-६२।

की असुविधा देखते हुए उसी समय अपने नये कपड़े को फाड़कर उस टुकड़े से वह स्थान साफ कर दिया। पास में खड़े कुछ लोगों ने उनको गलत समझ लिया, पर जो जानते थे उन्होंने उनकी इस स्वत:प्रेरित होकर की गयी सेवा की प्रशंसा की। मानसिक पवित्रता पिछले जन्मों में की गयी कठिन तपस्या का ही परिणाम है।"[२०]

फिर भी गोलापसुन्दरी को उनकी बेतुकी बातों के लिए, किसी परिस्थिति को बेढंगे निपटाने के लिए, श्री माँ के लिए अतिचिन्ता के कारण निकली कटूक्तियों के लिए, अथवा श्री माँ की संन्यासी या गैर-संन्यासी सन्तानों की टीका-टिप्पणी करने के लिए फटकार में न तो श्रीरामकृष्ण ने कभी संकोच किया और न श्री माँ ने ही। श्री माँ गोलाप को समझाते हुए कहतीं, "मैं क्या करूँ, गोलाप? जब कोई 'माँ' कहकर मेरे पास आता है तो मैं अपने को नहीं रोक पाती।"[२१] वे बार-बार गोलाप की कठोरता को यह कहकर सुधारतीं कि कड़वे सत्य को सदा दूर ही रखना चाहिए। अपने चरित्र में इस प्रकार की कभी-कभी क्षुब्ध करनेवाली कमी के बावजूद, ठाकुर और श्री माँ के द्वारा फटकारे जाने पर भी गोलाप का उन दोनों के प्रति असन्दिग्ध समर्पण अनुकरणीय था। गरीब और दुःखी लोगों के प्रति उनके गहरे प्रेम और सहानुभूति से उनके कोमल हृदय का परिचय मिलता। अपने नाती से प्राप्त छोटी मासिक सहायता का आधा भाग वे गरीबों की सेवा

२०. 'Great Women of India', पृ० ४५२।

२१. स्वामी गम्भीरानन्द: 'Holy Mother Sri Sarada Devi' (मद्रास : रामकृष्ण मठ, द्वि० सं०) पृ० ३६६,

में लगा देतीं। उनकी सहृदयता, निरहंकारिता और सर्वोपरि, उनकी निष्ठा देख उनको समीप से देखनेवाला कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना न रहता। उनका जीवन सचमुच 'अनासक्ति, प्रेम, सेवा और भक्ति की आन्तरिकता के गुणों से पूर्ण था'।[२२]

श्री माँ गोलापसुन्दरी का कभी-कभी अपनी जया[२३] के रूप में उल्लेख करतीं। श्री माँ के प्रतिदिन के पावन जीवन के साथ वे इतनी घनिष्ठ होकर जुड़ी थीं कि श्री माँ ने एक बार कहा था, "लोग मुझे देवी कहते हैं, और मैं भी कभी-कभी ऐसा सोचने के लिए प्रेरित हो जाती हूँ; नहीं तो मेरे जीवन में ये जो कई अलौकिक बातें घटती हैं उनको कोई कैसे समझा सकता है? योगेन और गोलाप बहुत कुछ इस बारे में जानती हैं।"[२४] साथ ही, श्री माँ की अन्य सेविकाओं की तरह 'जो श्रीरामकृष्ण के पावन स्पर्श से धन्य हुई थीं', गोलाप एक ऐसे अद्भुत स्तर तक उन्नत हो उठी थीं कि वे 'किसी नये धार्मिक भाव या विचार को तत्क्षण भेद लेतीं'।[२५] इससे उनको सामाजिक एवं धार्मिक कट्टरताओं से ऊपर उठकर अपने दृष्टिकोण को

२२. 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९२५, पृ० ९३।

२३. जया और विजया जगन्माता जगद्धात्री की दो सेविकाएँ थीं। श्री माँ सारदादेवी कभी कभी गोलापसुन्दरी और योगीन्द्र-मोहिनी का जया और विजया कहकर उल्लेख करतीं।

२४. स्वामी तपस्यानन्द : 'Sri Sri Sarada Devi, the Holy Mother' (मद्रास : श्री रामकृष्ण मठ, पंचम संस्करण), पृ. ११० ।

२५. भगिनी निवेदिता : 'The Master as I saw Him' (कलकत्ता उद्‌बोधन), पृ० १०७-८।

उदार और सहिष्णु बनाने में सहायता मिली। दूसरों के व्यवहार से क्षुब्ध एवं त्रस्त होने पर भी वे शीघ्र अपने आपको सम्हाल लेतीं और वह सब भूलने में उन्हें कुछ समय नहीं लगता।[२६]

उनके चरित्र के इस प्रकार के अलग-अलग गुणों के अलावे, श्रीरामकृष्ण एवं श्री माँ के जीवन और उपदेश उनके जीवन की मूल नींव में इतने गहरे उतरे थे कि उनकी शरणागति एवं आस्था की कोई सीमा न दीख पड़ती, और वे मानो ठाकुर और श्री माँ के पुनीत प्रभाव की जीवन्त परिचालक बन गयी थीं। अन्य दूसरे सन्तों की तरह उनके भी अन्तस् से अपने चहुँओर दया, भक्ति और आनन्द विकिरित होता रहता। साथ ही रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन के प्रति उनके भीतर इतनी गहरी पैठ आ गयी थी कि वे संन्यासी और गृहस्थ सभी में उत्साह, विश्वास, आशा और ज्ञान का संचार करतीं।

जब भी उन्हें समय मिलता, विशेषकर अपराह्ण में, वे भगवद्गीता, महाभारत, साथ ही श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों का पाठ करतीं।[२७] नयी पीढ़ी के भक्तों की दादी-माँ के रूप में वे गौरव का अनुभव करतीं तथा उन लोगों को अपनी ताजगी से भरी रोचक कहानियाँ सुनाकर मुग्ध करतीं। योगीन-माँ की तरह वे

२६. स्वामी अरूपानन्द : 'श्रीश्रीगोलाप-माता', पृ० ५४।

२७. 'Women Saints of East and West' (लन्दन : रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र, १९५५), पृ० १३२।

भी भगिनी निवेदिता को पुराणों से कहानियाँ सुनातीं ।[२८] वे दूसरों के द्वारा, विशेषकर स्वामी ब्रह्मानन्दजी द्वारा किये गये हास्य-परिहास का भी मजा लेतीं ।

गोलापसुन्दरी श्री माँ से चार वर्ष अधिक जियीं । छोटी-मोटी तीर्थयात्राओं को छोड़ इस महिला-सन्त का जीवन घर की चारदीवारी के भीतर निरन्तर तपस्या और आध्यात्मिक परिपूर्णता से भरा जीवन था, जो अन्त में १९ दिसम्बर, १९२४ को रामकृष्ण-सारदादेवी के दिव्य प्रकाश में मिल गया ।

२८. शंकरी प्रसाद बसु : 'निवेदिता लोकमाता' (बंगला) (कलकत्ता : आनन्द पब्लिशर्स), भा. १, पृ० २०० ।

○

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (१०)
(श्यामपुकुर में निवास के समय)

स्वामी योगेशानन्द

(लेखक अमेरिकन हैं और विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो में कार्यरत हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का सुन्दर संकलन किया है, जो रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा 'The Visions of Sri Ramakrishna' नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक की अनुमति से यह अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है।—स०)

कलकत्ते में आकर श्रीरामकृष्ण बलराम बोस के मकान में ठहरे और इधर किराये के एक उपयुक्त भवन की भी तलाश होती रही। बलराम का घर एवं परिवार पहले तो ठाकुर के और बाद में उनके महान् शिष्यों के सम्पर्क में आकर धन्य हो गया है, और आज भी वे लोग रामकृष्ण मठ और मिशन की सेवा करते आ रहे हैं।* भक्तों ने शीघ्र ही उत्तरी कलकत्ता के श्यामपुकुर स्ट्रीट में एक अच्छा मकान ढूँढ़ निकाला। इसमें ऊपर के एक बड़े कमरे में श्रीरामकृष्ण के रहने की व्यवस्था हुई और अब हम जिन दर्शनों का वर्णन करने जा रहे हैं, वे उन्हें वहीं पर प्राप्त हुए थे।

वह शरत्कालीन दुर्गापूजा का अवसर था, जो बंगाल में बड़े धूमधाम के साथ मनाया जाता है। ठाकुर के एक शिष्य सुरेन्द्रनाथ मित्र देवी के बड़े भक्त थे और उन्होंने अपने घर में काफी यत्नपूर्वक देवी के तीन दिनों के पूजन

---

* सम्प्रति यह भवन 'बलराम मन्दिर' नाम से रामकृष्ण मठ के अन्तर्भुक्त हो चुका है। (अनु०)

की व्यवस्था की थी । परन्तु उनके लिए अत्यन्त खेद की बात यह थी कि उनके परमप्रिय गुरुदेव बीमार थे, अतः वे स्वयं जाकर पूजा में भाग न ले सकते थे । तथापि पूजा की तीसरी सन्ध्या को ठाकुर के कमरे में एक दूसरे ही प्रकार का उत्सव हो रहा था । वहाँ पर एकत्रित अनेक लोगों में डा० महेन्द्रलाल सरकार भी थे, जो श्रीरामकृष्ण के गले की चिकित्सा कर रहे थे । नरेन्द्रनाथ ने कुछ भजन गाये और उसके द्वारा जिस पवित्र वातावरण की सृष्टि हुई, उसे सभी महसूस कर रहे थे । श्रीरामकृष्ण को बारम्बार भावसमाधि हो रही थी । शाम को प्रायः साढ़े सात बजे जब डाक्टर लौटने को हुए, तो ठाकुर उन्हें विदा करने के लिए उठ खड़े हुए तथा गहरी समाधि में डूब गये । कुछ लोग फुसफुसाकर कहने लगे कि यह उस सन्धिक्षण के माहात्म्य के कारण हुआ है, जो दुर्गापूजा में क़ाफी महत्त्व रखता है । डा०सरकार यह दृश्य देखने को पुनः बैठ गये । आधा घण्टे बाद श्रीरामकृष्ण की बाह्य चेतना लौटी और उन्होंने बताया कि उन्हें एक दर्शन हुआ, जिसमें वे सुरेन्द्र के घर पूजा में गये थे । "इस घर से सुरेन्द्र के घर को जोड़ते हुए मैंने एक ज्योतिर्मय पथ देखा । मैंने पाया कि सुरेन्द्र की भक्ति से अभिभूत होकर जगदम्बा उस मूर्ति में आविर्भूत हुई हैं—उनके तीसरे नेत्र से एक दिव्य ज्योति विकिरित हो रही है । उनके सामने दीपों की पाँत जल रही थी और सुरेन्द्र दालान में माँ के समक्ष बैठकर जोर-जोर से रो रहा था ।" ठाकुर पुनः कहने लगे, "अच्छा होगा कि तुम लोग वहाँ जाओ । तुम लोगों को देखकर उसे ढाढ़स बँधेगा ।" इस पर सदा के बुद्धिवादी और संशयवादी नरेन्द्र अन्य भक्तों को साथ ले सुरेन्द्र के घर गये और उन्हें सारी बातें

उक्त वर्णन के अनुरूप ही मिलीं।[१]

श्री 'म' ने अपने 'वचनामृत' ग्रन्थ में उसके परवर्ती दिन की घटनाओं का विवरण दिया है। वह विजयादशमी का दिन था। उस दिन जगन्माता की मूर्ति को गंगाजी में विसर्जित करते हैं। माँ के बिछोह के फलस्वरूप उदास मन लेकर सुरेन्द्र सान्त्वना पाने की आशा ले श्यामपुकुर के उस भवन में आये। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बताया—"कल सात-साढ़ेसात बजे के लगभग मैंने देखा, तुम्हारे दालान में श्रीदेवी की प्रतिमा है, चारों ओर ज्योति ही ज्योति है। सब एकाकार हो गया है—यह और वह। दोनों जगहों के बीच मानो ज्योति की एक तरंग बह रही है—इस घर से तुम्हारे उस घर तक।" सुरेन्द्र ने कहा—"उस समय मैं देवीवाले दालान में बैठा हुआ 'माँ माँ' कहकर रोते हुए उन्हें पुकार रहा था। मेरे भाई मुझे छोड़कर ऊपर चले गये थे। मेरे मन में ऐसा जान पड़ा कि माँ कह रही हैं, 'मैं फिर आऊँगी'।" इस घटना के बारे में वहाँ इतना ही लिखा है, परन्तु भगिनी देवमाता द्वारा लिखित 'Ramakrishna and His Disciples' ग्रन्थ के अनुसार स्वामी रामकृष्णानन्द ने उन्हें (देवमाता को) बताया था कि सुरेन्द्र ने उस समय ठाकुर को वहाँ स्पष्ट रूप से देखा था।[२] यदि ऐसी बात हुई थी, तब तो उपर्युक्त वार्तालाप में इसका उल्लेख मिलना था।

इसके कुछ दिनों बाद अपराह्न के तीन बजे श्रीराम-

१. 'Life of Sri Ramakrishna', अद्वैत आश्रम, मायावती, १९२५, पृ० ७०९।

२. वही, पृष्ठ १२९।

कृष्ण अपनी खाट पर आसीन थे, निकट में कुछ भक्त भी बैठे हुए थे। उसी समय अचानक उनमें वात्सल्य-भाव प्रकट हुआ। वे तकिये को गोद में लेकर उसे एक बच्चे के समान दुलारने तथा उसे छाती से लगाकर दूध पिलाने लगे। उनके चेहरे पर हँसी खेल उठी तथा वे अपनी धोती एक खास ढंग से पहनने लगे। भक्तगण विस्मयपूर्वक उनकी ओर देखने लगे। स्पष्टतः वे भाव-समाधि में डूब गये थे। भाव का उपशम होने के थोड़ी देर बाद उन्होंने श्री'म' को अपनी अनुभूति की बात बतायी—"शिहोड़ के रास्ते में तीन-चार कोस का एक मैदान है, वहाँ मैं अकेला हूँ। (पंचवटी में) बड़ के नीचे मैंने जो १५-१६ साल के लड़के की तरह एक परमहंस देखा था, ठीक उसी तरह देखा। चारों ओर आनन्द का कुहरा सा छाया है—उसी के भीतर से १३-१४ साल का एक लड़का निकला, केवल उसका मुँह दीख पड़ता था। पूर्ण की तरह का था। हम दोनों ही दिगम्बर! फिर आनन्दपूर्वक मैदान में दोनों ही दौड़ने और खेलने लगे। दौड़ने से पूर्ण को प्यास लगी। एक पात्र में उसने पानी पिया, पानी पीकर मुझे देने के लिए आया। मैंने कहा, 'भाई, तेरा जूठा पानी तो मैं न पी सकूँगा।' तब वह हँसते हुए गिलास धोकर मेरे लिए पानी ले आया।"[३] हमने यहाँ पर ठाकुर के अपने शब्द ही उद्धृत किये हैं, पर इस दर्शन के बारे में और भी अधिक जानने की इच्छा होती है। काश! उन्होंने और भी कुछ बताया होता। सम्भवतः पंचवटी में दिखा हुआ यह परमहंस बालक उस युवा संन्यासी का प्रतिरूप है, जो कि उनके स्वयं का द्योतक है; क्योंकि इस दर्शन के होने के पश्चात् से उसमें केवल

३. 'वचनामृत', भाग ३, तृतीय सं., पृष्ठ ३४९।

दो ही व्यक्ति हैं। कोई-कोई ऐसा सोच सकते हैं कि ठाकुर के इस दर्शन में तथा उनकी अगली उक्ति में एक सम्बन्ध है। वे पुनः समाधिमग्न हो जाते हैं और प्रकृत अवस्था में लौटने पर श्री'म' से कहते हैं, "अवस्था फिर बदल रही है। अब मैं प्रसाद नहीं ले सकता। सत्य और मिथ्या एक हुए जा रहे हैं।" क्या इसका तात्पर्य यह है कि इस दर्शन में पूर्ण की तरह का लड़का ईश्वर का प्रतीक है, और श्रीरामकृष्ण अब ईश्वर तक का उच्छिष्ट नहीं ग्रहण कर सकते, क्योंकि अब वे सत्य (अर्थात् ईश्वर) और मिथ्या (उनका अपना शरीर, मन एवं सम्पूर्ण जगत्) के परस्पर तादात्म्य का अनुभव कर रहे हैं?

इसी बीच समाधि से लौटते हुए उन्हें एक अन्य दर्शन भी हुआ। उन्होंने कहना जारी रखा—"फिर क्या देखा जानते हो? ईश्वरीय रूप! भगवती मूर्ति! पेट के भीतर बच्चा है—उसे निकालकर फिर निगल रही है!—भीतर बच्चे का जितना अंश जा रहा है, उतना बिलकुल शून्य हुआ जा रहा है। मुझे दिखला रही थीं कि सब शून्य है।" पाठकों ने सम्भवतः पहचान लिया होगा कि यह श्रीरामकृष्ण को बीस वर्ष पूर्व हुए दर्शन की पुनरावृत्ति या रूपान्तर है, जिस पर हम तीसरे अध्याय (इस लेख माला के चौथे लेख) में चर्चा कर चुके हैं।

सदा की भाँति उस दिन (२३ अक्तूबर, १८८५ ई.) की सन्ध्या को भी उनकी खाट के समीप अनेक भक्त एकत्र थे। उनमें नाट्यकार, अभिनेता एवं प्रबन्धक गिरीश घोष भी थे, जो हाल ही में ठाकुर की मण्डली में शामिल हुए थे। वे श्रीरामकृष्ण के मनोरंजनार्थ अपने साथ स्टार थियेटर के अभिनेता और गायक रामतारण को भी ले

आये थे। श्रीरामकृष्ण ने थियेटर में जाकर 'बुद्धचरित' नाटक देखा था। रामतारण ने उसी नाटक के दो गाने गाये। वह नाटक तथा उसके गाने भी गिरीश ने एडविन अर्नाल्ड के 'Light of Asia' ग्रन्थ के कुछ अंशों के आधार पर लिखा था। द्वितीय गाना निम्नलिखित शब्दों के साथ समाप्त हुआ, जो भगवान् बुद्ध की एक प्रार्थना-सी लगती है—

(भावानुवाद) 'ऐ जागनेवाले, मुझे भी जगा दो। हाय! कब तक और यह स्वप्न चलता रहेगा? क्या तुम[४] सचमुच जाग रहे हो, यदि नहीं तो अब अधिक न सोओ। ऐ सोनेवाले! नींद से उठो, और कहीं फिर मत सो जाना। यह घोर निबिड़ अन्धकार बड़ा दारुण है, बड़ा कष्टदायी है। इस अन्धकार का नाश करो, हे प्रकाश! तुम्हारे बिना और कोई उपाय ही नहीं है—तुम्हारे श्रीचरणों में मैं शरण चाहता हूँ!' गायक ज्योंही इस पंक्ति तक पहुँचे—'इस अन्धकार का नाश करो, हे प्रकाश!' कि श्रीरामकृष्ण 'सूर्य' का दर्शन पाकर समाधि में डूब गये। बाद में उन्होंने बताया था कि "उसके (ज्ञानसूर्य के) उदय होने के साथ ही चारों ओर का अन्धकार दूर हो गया और (देखा कि) उसी के चरणों में सब लोग शरणागत होकर गिर रहे हैं।"[५] यहाँ पर हमें एक अन्य दर्शन का स्मरण हो आता है, जो कालक्रम की दृष्टि से काफी पहले का है। ब्राह्म-समाज के गायक और कवि त्रैलोक्यनाथ सान्याल ने ठाकुर के साथ परिचय होने के कुछ काल बाद ही उन्हें अपना

४. श्रोता।

५. 'वचनामृत', भाग ३, पृष्ठ ३५३।

एक भजन सुनाया था, जिसकी पहली पंक्ति का भावार्थ है— 'चिदाकाश में प्रेमरूपी पूर्णचन्द्र का उदय हुआ ।' सुनने के साथ ही श्रीरामकृष्ण ने एक बहुत बड़ा जागृत उज्ज्वल पूर्णचन्द्र उदित होते देखा; और इसके बाद से जब कभी भी वह भजन गाया जाता, उन्हें समाधि लग जाया करती थी ।[६]

कुछ दिनों बाद एक दर्शन में श्रीरामकृष्ण को दो ऐसे लोगों की सूचना मिली, जिनकी आध्यात्मिक चेतना का जागरण होनेवाला था । गोधूलि का समय था और श्रीरामकृष्ण का ऐसा अभ्यास था कि वे उस समय अपने बिस्तर पर बैठकर भगवन्नाम जपते या ध्यान में डूबे रहते थे । उस दिन वे इतने अन्तर्मुख हो गये कि गले की पीड़ा की बात उन्हें बिल्कुल ही बिसर गयी । बहुत समय बाद साधारण भूमि पर आने पर उन्होंने फुसफुसाते स्वर में श्री'म' को बताया कि उनका मन अखण्ड में पूर्णत: लीन हो गया था, तदुपरान्त उन्होंने काफी कुछ देखा; देखा कि डा० सरकार को बहुत ज्ञान होगा, पर वह 'शुष्क ज्ञान' होगा, तथापि वे धीरे-धीरे नरम हो जाएँगे । इसके अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य व्यक्ति को भी देखा । वे कहते हैं—"मन में यह उठा कि उसे भी ले लूँ । उसकी बात तुम्हें बाद में बताऊँगा ।"[७] वे दूसरे व्यक्ति थे बलराम के चचेरे भाई हरिवल्लभ, जिनके साथ हाल ही में उनका परिचय हुआ था, और जिनके प्रति उन्होंने स्नेह भी प्रदर्शित किया था । डा० सरकार और हरिवल्लभ दोनों ही प्रारम्भ में हँसी उड़ाने का भाव लेकर श्रीरामकृष्ण के पास आये थे, पर

६. 'लीलाप्रसंग', भाग ३, तृतीय सं., पृष्ठ ३८ ।

७. 'वचनामृत', भाग ३, पृष्ठ ४२६, ४५६ ।

शीघ्र ही वे उन्हें सम्मान देना सीख गये । डाक्टर एक सज्जन व्यक्ति थे । वे ठाकुर की उपस्थिति में होनेवाले भावुकता के प्रदर्शन की प्रायः निन्दा किया करते, परन्तु एक दिन नरेन्द्र का भजन सुनने के बाद डाक्टर को प्रसन्न देख श्रीरामकृष्ण ने उन्हें एक ऐसे पुत्र की कहानी बतायी, जो मद्यपान का आदी हो गया था । पिता के नाराज होने पर लड़के ने कहा था, 'पिताजी, आप थोड़ी-सी शराब चख लीजिए और उसके बाद यदि मुझसे कहेंगे कि मैं शराब पीना छोड़ दूँ, तो छोड़ दूँगा ।' शराब चखने के बाद बाप ने कहा, 'बेटा, तुम चाहो तो शराब छोड़ दो, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु मैं तो नहीं छोड़ूँगा !'

स्वामी सारदानन्द बतलाते हैं कि श्यामपुकुर निवास-काल में एक दिन श्रीरामकृष्ण एक युवक को ईश्वर का ध्यान करने के उपयुक्त विविध आसन सिखा रहे थे । पद्मासन में बैठकर बाँयीं हथेली के ऊपर दाहिना करपृष्ठ रखकर वे दोनों हाथ छाती तक उठा लाये तथा चक्षु निमीलन करके उन्होंने कहा, "यह सब प्रकार के साकार ध्यान का उत्तम आसन है ।" इसके बाद उसी आसन पर बैठे रहकर बाँयाँ हाथ बाँयीं जंघा पर और दाहिना हाथ दाहिनी जंघा पर रखकर प्रत्येक हाथ के अँगूठे और तर्जनी के अग्रभाग को संयुक्त कर तथा दूसरी उँगलियों को सीधी रखकर भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करके उन्होंने कहा, "यह निराकार ध्यान का उत्तम आसन है ।" इतना कहते-कहते वे पूर्णतया समाधिस्थ हो गये । कुछ देर बाद बलपूर्वक मन को साधारण ज्ञानभूमि में उतारकर बोले, "और दिखाया नहीं जा सका; इस प्रकार बैठने पर उद्दीपन होकर मन तन्मय और समाधिलीन हो जाता है और

वायु के ऊर्ध्वगामी होने से कण्ठदेश के घाव में चोट लगती है । इसी कारण डाक्टर समाधि न हो, इसके लिए विशेष प्रयत्न करने को कह गये हैं ।" युवक कातर होकर बोला, "आपने क्यों ऐसा दिखाया, मैं तो देखना नहीं चाहता था ।" उत्तर में उन्होंने कहा, "सो ठीक है, परन्तु तुम लोगों को थोड़ा-बहुत न बताकर और न दिखाकर मैं रह कैसे सकता हूँ ?"[८] यह घटना हमें पहले की एक ऐसी ही घटना का स्मरण करा देती है, जिसमें उन्होंने इसी प्रकार स्पष्ट रूप से बताया था कि समाधि में जाते समय उनके मन की कैसी अवस्था होती है । उस दिन उन्होंने कहा था, "आज तुम लोगों से मैं अवश्य ही सब कुछ कहूँगा और कुछ भी नहीं छिपाऊँगा"—यह कहकर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया । हृदय तथा कण्ठ पर्यन्त के चक्रादि का वर्णन भली-भाँति करने के पश्चात् भ्रूमध्यस्थल को दिखाकर कहने लगे, "मन जब यहाँ पर आरूढ़ होता है, तब परमात्मा के दर्शन मिलते हैं तथा जीव को समाधि लग जाती है । उस समय परमात्मा तथा जीवात्मा के बीच में केवल एक स्वच्छ, पतले परदे मात्र का व्यवधान रह जाता है । तब उसे इस प्रकार के दर्शन होते हैं"—इतना कहकर परमात्मा के दर्शन की बात को ज्योंही उन्होंने कहना प्रारम्भ किया कि वे तत्काल समाधिस्थ हो गये । समाधि-भंग होने पर जब उन्होंने पुनः कहने का प्रयास किया, उस समय भी उन्हें समाधि लग गयी ! इस प्रकार बारम्बार प्रयास करने के बाद उनके नेत्रों में आँसू भर आये और वे बोले, "अरे, मैं तो सब कुछ कहना चाहता था, कुछ भी छिपाने की मेरी

---

८. 'लीलाप्रसंग', भाग ३, पृष्ठ २५५-५६ ।

इच्छा नहीं थी, किन्तु माँ ने मुझे कुछ भी कहने नहीं दिया—मेरा मुँह पकड़ लिया !"

उन्होंने कहा था—"देखो, कोई एक वस्तु सर-सर करती हुई पैर से चलकर माथे में पहुँच जाती है। जब तक वह माथे में नहीं पहुँचती, तब तक होश बना रहता है; और ज्योंही वह माथे में पहुँच जाती है, तत्काल ही मेरा बाह्यज्ञान चला जाता है। उस समय जब कुछ देखना-सुनना ही सम्भव नहीं है, तो ऐसी स्थिति में वार्तालाप की बात ही क्या? वार्तालाप हो ही कैसे सकता है?—'मैं'-'तुम' का बोध ही लुप्त हो जाता है! मैं चाहता हूँ कि तुम लोगों से सब कुछ कहूँ—उसके उठते समय जो दर्शनादि मुझे प्राप्त होते हैं, उनका पूर्ण विवरण दूँ। जब तक वह (अपने हृदय तथा कण्ठ को दिखाकर) यहाँ तक या अधिक से अधिक यहाँ तक उठती है, तब तक वार्तालाप किया जा सकता है तथा मैं भी बातचीत करता रहता हूँ, किन्तु जैसे ही वह (अपने कण्ठ को दिखाते हुए) यहाँ से आगे बढ़ने लगती है, उस समय मानो कोई मेरे मुँह को दबा देता है। ज्योंही मैं उसका वर्णन करने का विचार करता हूँ, त्योंही मेरा मन तुरन्त ऊपर चढ़ जाता है—फिर कुछ भी कहना सम्भव नहीं हो पाता !"[१] इसके एक विशिष्ट उदाहरण के तौर पर हम दक्षिणेश्वर का अप्रैल, १८८५ ई. का एक दृश्य लेंगे। श्रीरामकृष्ण गिरीश, श्री 'म' तथा अन्य लोगों को बता रहे हैं—"यह देखो, बातें कहते ही कहते मन उद्दीप्त हो रहा है।" यह कहते समय श्रीरामकृष्ण को भावावेश होने लगा। बड़ी मुश्किल से वे भाव-संवरण की

१. 'लीलाप्रसंग,' भाग २, तृतीय सं., पृष्ठ ५९; 'Life', पृ. १९८।

चेष्टा कर रहे हैं । कह रहे हैं—"अब भी तुम लोगों को देख रहा हूँ—परन्तु यह भासित होता है कि मानो सदा ही तुम लोग इसी तरह बैठे हुए हो—कब आये हो, कहाँ से आये, यह कुछ याद नहीं ।" कुछ देर वे स्थिर रहे । कुछ प्रकृतिस्थ होकर कह रहे हैं, "पानी पीऊँगा ।" समाधि-भंग के पश्चात् मन को उतारने के लिए यह बात वे प्राय: कहा करते हैं । गिरीश अभी नये आये हैं, वे नहीं जानते, इसलिए पानी ले आने के लिए चले । श्रीरामकृष्ण मना कर रहे हैं, कहा, "नहीं जी, अभी पानी न पी सकूँगा ।"[१०] मन के समाधि से उतरने के बारे में एक अन्य समय उन्होंने कहा था कि ऐसे समय वे ठीक से गिनती भी नहीं गिन सकते, संख्याएँ 'एक, सात, आठ' या कुछ इसी तरह के क्रम में आती थीं ।

१८८५ ई. के अक्तूबर में जिस दिन 'Society of Friends' के एक ईसाई भक्त (प्रभुदयाल) मिश्र श्रीरामकृष्ण से मिलने को आये, उस दिन वहाँ श्री'म' भी उपस्थित थे । वे किस प्रकार Quaker* (क्वेकर) हुए, यह जानकारी रोचक है । यद्यपि उनके बारे में हमारा ज्ञान नगण्य है, तथापि हमारी उत्सुकता को शान्त करने के लिए उतना ही यथेष्ट है । उनके एक भाई के विवाह के समय ऊपर से शामियाना गिर जाने के फलस्वरूप उनके दो अन्य भाइयों की मृत्यु हो गयी थी, और तब से उन्होंने

---

१०. 'वचनामृत', भाग ३, पृष्ठ ११० ।

* ईसाई मतावलम्बियों का एक सम्प्रदाय, जो १७वीं शताब्दी के मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ । इसके अनुयायी 'अन्तर्ज्योति' की शान्तिपूर्वक प्रतीक्षा तथा 'प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर-दर्शन' का प्रचार करते हैं । (अनु०)

संसार का त्याग कर दिया था। अपनी साहबी वेशभूषा के भीतर वे संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहने रहा करते थे। ठाकुर ने अत्यन्त हार्दिकता के साथ उनका स्वागत किया और मिश्र ने उनके प्रति एक भक्त का भाव व्यक्त किया। वहाँ उपस्थित भक्तों को अन्य बातों के अतिरिक्त उन्होंने यह भी बतलाया कि श्रीरामकृष्ण को उन्होंने साक्षात् ईश्वर के रूप में पहचान लिया है, तथा वे पहले भी ध्यान में श्रीरामकृष्ण का दर्शन कर चुके हैं। ध्यान के समय उन्होंने देखा था कि ठाकुर एक बगीचे के अन्दर एक ऊँचे आसन पर विराजमान हैं तथा भूमि पर एक अन्य व्यक्ति बैठे हैं, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उतने पहुँचे हुए नहीं हैं। दक्षिणेश्वर में पंचवटी का दृश्य बहुत कुछ ऐसा ही है। ठाकुर के एक प्रश्न के उत्तर में मिश्र ने स्वीकार किया कि उन्हें ईसामसीह का दर्शन मिल चुका है और उनके रूप की तुलना में नारी का सौन्दर्य तुच्छ प्रतीत होता है। थोड़ी देर बाद श्रीरामकृष्ण अपने कमरे के बरामदे में गये, फिर लौटकर बोले, "इसे (मिश्र को) देखा, वीर की तरह खड़ा है।" यह कहते हुए वे समाधिमग्न होने लगे। कुछ प्रकृतिस्थ होने पर मिश्र का हाथ पकड़कर कहने लगे, "तुम जो चाहते हो, वह प्राप्त हो जाएगा।"[११]

कहते हैं कि (श्यामपुकुर के) इस मकान में निवास करते समय एक दिन अपने कमरे में टहलते समय श्रीरामकृष्ण ने देखा कि उनके स्थूल शरीर में से सूक्ष्म शरीर बाहर निकल आया, जिसके गले के संयोगस्थल पर बहुत से घाव थे। आश्चर्यचकित होकर वे इस प्रकार घाव होने

११. वही, पृष्ठ ४५२।

का कारण सोच ही रहे थे कि जगदम्बा ने उन्हें बताया कि अनेक प्रकार के लोग कुकर्म करने के बाद उनके पास आकर उनके स्पर्श से पवित्र हो गये हैं और उनके पाप इस शरीर में प्रविष्ट हो जाने के कारण ही ये घाव हुए हैं। उन्होंने अपने स्वाभाविक ढंग से ही भक्तों को यह बात बतायी थी, उस समय उनके मन में अभिमान या खेद का लेश तक न था। बहुत पहले उन्होंने दक्षिणेश्वर में कहा था कि वे जीवों के कल्याणार्थ हजारों बार जन्म लेकर भी दुःख भोगने को प्रस्तुत हैं। यह था श्रीरामकृष्ण के कर्मयोग का स्वरूप। परन्तु यह सुनने के बाद से भक्तों ने उन्हें नवागन्तुकों के स्पर्श से बचाने का निश्चय किया तथा स्वयं भी उन्हें न छूने का संकल्प लिया।[१२]

१२. 'लीलाप्रसंग', भाग ३, तृतीय सं.; पृ. २६१।

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) ग्लानि ज्ञान की मूल

आलन्दी गाँव के ब्राह्मणों में विसोबा चारी अत्यन्त दुष्ट था। वह बालक ज्ञानेश्वर, सोपानदेव एवं मुक्ताई से द्वेष करता था। एक बार बालिका मुक्ता को माँडा (पतली रोटी) खाने की इच्छा हुई। माँडा बनाने के लिए विशिष्ट बर्तन की जरूरत होती है। तब ज्ञानदेव बर्तन लाने के लिए कुम्हार के पास जाने लगे। रास्ते में उन्हें विसोबा ने रोका और पूछा कि वह कहाँ जा रहा है। बालक ज्ञानदेव ने जब बताया कि माँडा बनाने के लिए बर्तन लाने जा रहा है, तो विसोबा भी उनके पीछे जाने लगा। जब ज्ञानदेव ने कुम्हारों से बर्तन माँगा, तो विसोबा ने उन्हें देने से मना कर दिया। आखिर ज्ञानेश्वर को मन मसोसकर खाली हाथ वापस लौटना पड़ा।

मुक्ता ने जब ज्ञानदेव को खाली हाथ देखा, तो पूछा, "क्या बर्तन नहीं मिला?" ज्ञानदेव ने कहा, "आटा गूंधो।" "मगर बर्तन कहाँ है?"—मुक्ता ने प्रश्न किया। ज्ञानदेव बोले, "मेरी पीठ जो है!" और उन्होंने अपनी पीठ सामने कर दी। मुक्ता ने भी फिर देर न की और भाई की पीठ पर ही माँडे सेंकना शुरू किया। इन बालकों की हँसी उड़ाने के लिए विसोबा ज्ञानदेव के पीछे आकर छिपकर खड़ा हो गया था। उसने जब यह चमत्कार देखा, तो उसका सारा घमण्ड चूर-चूर हो गया। उसे पश्चात्ताप हुआ कि व्यर्थ ही वह इन अबोध बालकों के प्रति ईर्ष्याभाव रखता रहा। उसने ज्ञानदेव के चरण पकड़े और माफी माँगी। मुक्ता ने जब यह देखा, तो समझ गयी कि विसोबा ने ही कुम्हारों को बर्तन देने से मना किया होगा। उसने

गुस्से में आकर कहा, "दूर हो जा, खच्चर ! पहले तो बर्तन लेने नहीं दिये और अब माँडे सेंक रही हूँ, तो पैर पकड़कर माफी माँग रहा है ।" ज्ञानदेव ने मुक्ताई को शान्त किया । विसोबा प्रभु की लीला से प्रभावित हो गया था । उसके स्वभाव में एकदम परिवर्तन आ गया । आगे चलकर वह 'विसोबा खच्चर' नाम से ही जाना जाने लगा ।

(२) प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होई

मगधनरेश बिम्बसार की रानी क्षेमा अत्यन्त सुन्दरी थी । उसे अपने सौन्दर्य पर बड़ा घमण्ड था । वह स्वयं को नाना प्रकार के आभूषणों और विभिन्न सौन्दर्य-प्रसाधनों से सजाया-सँवारा करती । महाराज उससे हमेशा धर्म-कर्म करने का आग्रह करते, किन्तु वह उसे अनसुना कर देती ।

एक बार जब भगवान् बुद्ध राजगृह पधारे, तो मगध-नरेशने रानीसे उनके दर्शन को चलने के लिए कहा । रानी द्वारा इन्कार करने पर उन्होंने एक चाल चली । दूसरे दिन रानीके पास उन्होंने सन्देश भेजा कि वे वेणुवन जा रहे हैं, वन-विहार के लिए वे वहाँ रानी की प्रतीक्षा करेंगे ।

अनुचरों के साथ जब रानी वन में आयी, तो उसे राजा तो कहीं दिखाई न दिये, बल्कि नेत्र मूँदे, पद्मासन लगाये ध्यानस्थ बुद्धदेव दिखाई पड़े । उसे अनुचरों पर क्रोध आया और उसने वहीं दण्ड की घोषणा कर दी । इससे भगवान् का ध्यान भंग हो गया । उन्होंने शान्त-स्थिर स्वर में रानी से प्रश्न किया, "भद्रे ! अन्तःपुर छोड़कर एकाएक यहाँ उपस्थित होने का क्या प्रयोजन है ? क्या राजमहल के आनन्द-परिपूर्ण वातावरण से तुमने वैराग्य ले लिया है?"

महारानी ने संयत स्वर में उत्तर दिया, "महापुरुष !

न तो मुझे वैराग्य हुआ है और न ही उसकी मुझे कामना है। मैं तो अपने वर्तमान जीवनसे पूर्ण सन्तुष्ट हूँ। कृपया बताइए कि मगधनरेश कहाँ हैं? मैं उनकी खोजमें यहाँ आयी हूँ।"

तथागत के होंठों पर मुसकान खेल उठी, बोले, "महारानी, यह स्थान महाराज का नहीं। हाँ, धर्म-चर्चा श्रवण करने वे यहाँ कभी-कभी अवश्य आते हैं। महाराज के यहाँ होने का तुम्हें भ्रम हो गया है। वैसे भद्रे! यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि तुम अभी भी कई भ्रमों को सत्य समझ बैठी हो। तुम कहती हो कि अपने जीवन से तुम सन्तुष्ट हो, पर सही-सही बताओ कि भोजन के कुछ समय बाद क्या तुम्हें फिर भोजन की इच्छा नहीं होती? क्या आमोद-प्रमोद के प्रति तुम्हारी तृष्णा निरन्तर बनी नहीं रहती?"

महारानी हँस पड़ी—"कैसी अनगढ़ बातें कहते हैं, महापुरुष! भोजन की इच्छा तो शरीर-धारण करने के लिए आवश्यक है। भोजन के परित्याग से शरीर-रक्षा कैसे सम्भव है? आमोद-प्रमोद भी इसी प्रकार आवश्यक है। प्रेम मन का स्वभावजन्य गुण है। केलि-कलरव, आमोद-प्रमोद और भोग-विलास में परम आनन्द की प्राप्ति होती है। यह तो प्रकृति का नियम है।"

बुद्धदेव बोले, "मगर महारानी, क्या आनंद क्षणिक नहींहै?"

"है, महापुरुष!"

"क्या रूप-लावण्य स्थिर नहीं है?"

"नहीं, भन्ते!"

"क्या हमारे शरीरकी अवस्था परिवर्तनशील नहींहै?"

"है, सौम्य!"

"महारानी, यदि दुर्भाग्य से महाराज का राज्य छिन

जाए, दीन-हीन होने के साथ उनका तेज, उनकी कान्ति नष्ट हो जाए—शरीर जर्जर हो जाए, तो क्या उनके संसर्ग में तुम्हें आनन्द का अनुभव होगा ?"

प्रश्न सुन रानी स्तब्ध खड़ी रह गयी। उससे कोई जवाब देते न बना।

"अच्छा, महारानी !" तथागत ने दूसरा प्रश्न किया, "यदि तुम्हारा रूप-लावण्य नष्ट हो जाए, मुख दन्तविहीन हो जाए, भ्रमर-समान काले केश श्वेत हो जाएँ, मृग-समान नेत्रों की ज्योति मन्द हो जाए, तो क्या महाराज तुम्हारी ओर आकृष्ट होंगे ? क्या उन्हें तुम्हारे संसर्ग की इच्छा होगी, या वे तुम्हारा परित्याग कर देंगे ?"

रानी ने जब यह सुना, तो यौवन के नष्ट होने पर पति-परित्यक्ता कई स्त्रियों की दुर्दशा का उसे स्मरण हो आया। उसके कल्पना-चक्षु के समक्ष स्वयं उसके भयावह भविष्य का चित्र खिंच गया और वह विचलित हो उठी। उसकी देह काँपने लगी, पाँव थर्राने लगे और संज्ञा लुप्त हो गयी। बेभान हो, जहाँ खड़ी थी वहीं वह दीवार का सहारा लेकर बैठ गयी।

उसकी यह अवस्था देख बुद्धदेव ने कहा, "मगधेश्वरी! तुम्हारी यह भयविह्वल अवस्था ही तुम्हारा उत्तर है। इस अवस्था में निश्चय ही महाराज तुम्हारा परित्याग करेंगे। मगधेश का वियोग तो कभी न कभी होगा ही। तब महारानी, क्या इस क्षण-भंगुर आनन्द, आमोद-प्रमोद और केलि-कलरव में अपना बहुमूल्य जीवन नष्ट करना मूर्खता नहीं ? जब वियोग-विछोह अवश्यम्भावी है, तब उसके झूठे मोह में यह मानव-जीवन व्यर्थ गँवाना क्या उचित है ?"

रानी के लिए धैर्य धारण करना कठिन हो गया। वह बुद्धदेव के चरणों में झुक गयी और बोली, "भगवन्, आज आपने मुझ पर बड़ी कृपा की और मेरा मोह भंग कर दिया। मैं अब तक अन्धकार में भटकती थी, अब मुझे अपनी शिष्या बनाकर अपना जीवन सार्थक करने का मौका दें।"

भगवान् ने मीठी वाणी में कहा, "भद्रे! भ्रमजाल से तुम्हें मुक्ति मिलती देख मैं प्रसन्न हुआ। यदि तुम वास्तव में दीक्षा लेना चाहती हो, तो सर्वप्रथम महाराज से अनुमति प्राप्त करो; जाओ, तुम्हारा कल्याण हो!"

राजमहल में आते ही रानी ने सारे आभूषण फेंक दिये और साधारण वस्त्र धारण कर वह महाराज के चरणों पर सिर टेककर बोली, "महाराज, मैं भगवान् बुद्ध की शरण जाना चाहती हूँ, आज्ञा दें।"

(३) मति रामहिं सो, गति रामहिं सो

वैष्णवमत-प्रचारक रामानुजाचार्य जब मैसूर आये, तो पता चला कि पावउपुर से अठारह मील की दूरी पर एक घने जंगल में मूलर (नारायण) का विग्रह है, जिस पर बाँबी उग आयी है। आचार्य ने दूध का अभिषेक कर बाँबी को गलाया और वहाँ मन्दिर बनाने का निश्चय किया। तभी उन्हें किसी ने बताया कि कर्नाटक के नवाब के खजाने में शैल्वराज की एक मूर्ति है, जो कि नवाब की कन्या नाच्चियार को बड़ी प्यारी है। सन्त को बुरा लगा कि एक यवन-कन्या हिन्दू-देवता की मूर्ति को अपने पास रखे! नवाब के पास जाकर उन्होंने वह मूर्ति देने की विनती की। रात को जब कन्या सो गयी, तो नवाब ने उसे रामानुजाचार्य के सुपुर्द कर दिया और वे उसे लेकर लौट गये।

सुबह जब मूर्ति दिखाई न दी, तो शाहजादी ने खाना-पीना छोड़ दिया। इससे नवाब को बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि उसने कन्या की अनुमति लिये बिना व्यर्थ ही वह मूर्ति दे दी। उसने घुड़सवारों को भेजकर रामानुजाचार्य को मूर्ति सहित गिरफ्तार करने का आदेश दिया।

रास्ते में रामानुजाचार्य को जब घोड़ों के टापों की आवाज सुनाई दी, तो वे सावधान हो गये। उन्होंने यह सोचकर कि सिपाही हिन्दुओं के घरों में ही उनकी खोज करेंगे, वे भंगियों की बस्ती में पहुँच गये। हरिजनों ने उन्हें आश्रय दिया और मूर्ति को नारायणपुर (मेलकोट) पहुँचा दिया। बाद में नारायणपुर जाकर रामानुजाचार्य ने मूर्ति की प्रतिष्ठा की और उसे 'उत्सव मूर्ति' नाम दिया।

शाहजादी से रहा न गया और विश्वस्त कर्मचारियों को लेकर नारायणपुर पहुँच गयी, किन्तु जब उसने सुना कि वहाँ मूर्ति की प्रतिष्ठा की जा चुकी है, तो वह मूर्ति का विछोह सहन न कर सकी और उसने वहीं प्राण त्याग दिये। एक यवन-कन्या की हिन्दू देवता के प्रति श्रद्धा देख सारे लोग चकित रह गये और उन्होंने वहाँ शाहजादी की मूर्ति भी प्रतिष्ठित कर दी। आज भी शैल्वराज की मूर्ति के पास नाच्चियार की मूर्ति विद्यमान है। यहाँ वर्ष में एक बार 'अंगमणि उत्सव' मनाया जाता है और इसके दर्शनार्थ हिन्दुओं के अलावा हरिजन और मुसलमान भी बड़ी संख्या में आते हैं।

(४) यह संसार काँट की बारी

बौद्ध सन्त पटाचारा वणिक-पुत्री थी। उसके द्वारा अपने मनपसन्द युवक से विवाह करने से उसके माता-पिता रुष्ट हो गये और उन्होंने उससे सम्बन्ध तोड़ दिये।

दो पुत्र होने के बाद पटाचारा की इच्छा माता-पिता के दर्शन करने की हुई। उसने सोचा कि उनका गुस्सा अब शान्त हो गया होगा और नातियों को देखकर प्रेम-भाव उमड़ आएगा, इसलिए पति के साथ वह अपने गृहनगर श्रावस्ती की ओर रवाना हुई। मगर भगवान् भक्तों को कष्ट देकर संकट की घड़ी में उनकी परीक्षा लेना चाहते हैं।

जब पटाचारा पति एवं बच्चों के साथ वन से जा रही थी तो एक सर्प ने उसके पति को काट खाया। उचित इलाज के अभाव में वह बच न सका और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। पति-वियोग में विलाप करती पटाचारा बच्चों को लेकर आगे बढ़ी ही थी कि अकस्मात् एक जंगली पक्षी उसके एक बच्चे को उठा ले भागा, किन्तु वह विचलित न हुई और आगे बढ़ी। लेकिन विपत्तियाँ भी एक के बाद एक आती रहती हैं। मार्ग में एक नदी पड़ी और दूसरा बच्चा तेज धार में बह गया। अब बेचारी पटाचारा अकेली रह गयी, किन्तु उसके भाग्य में सुख कहाँ था? वह जब श्रावस्ती पहुँची, तो पता चला कि कुछ ही दिन पहले उसके माता-पिता घर की छत गिरने से कालकवलित हो चुके हैं। अब तो बेचारी बेसहारा हो गयी। इतने में उसे पता चला कि श्रावस्ती में बुद्धदेव का आगमन हुआ है। वह उनके पास पहुँची और उसने उन्हें अपनी दुःखद कहानी सुनाई। बुद्धदेव ने उससे कहा, "पटाचारा, यह संसार नश्वर है। यहाँ कोई किसी का नहीं होता। सांसारिक सम्बन्ध क्षणिक होते हैं, इसलिए मनुष्य को उनके मोह-माया से दूर रहना चाहिए। मनुष्य का जीवन कण्टकापूर्ण रहता है और आपदाएँ उसे सतत घेरी रहती हैं। इसलिए मनुष्य को हार न मानकर उनका सामना करना चाहिए।"

इस उपदेश का पटाचारा पर असर हुआ। उसने सांसारिक जीवन का त्याग कर शाश्वत शान्ति का मार्ग अपनाने का निश्चय किया और वह बौद्ध भिक्षुणी हो गयी।

(५) थोरे से बहु होयगी

एक बार मुस्लिम महिला सन्त राबिआ से मिलने दो सन्त आए। उन्होंने सोचा कि इनके यहाँ जो भोजन मिलेगा, वह हलाल यानी पाक ही होगा। राबिआ ने उनके सामने दो रोटियाँ रख दीं। वे उन्हें खाने को वाले थे कि द्वार पर दस्तक हुई। खोलने पर एक फकीर दिखाई दिया। तो राबिआ ने वे रोटियाँ उसे दे डालीं और दासी से रोटियाँ लाने के लिए कहा। दासी एक थाली में रोटियाँ लेकर आयी, तो राबिआ ने उन्हें गिना, वे १८ थीं। उसने उन्हें वापस कर दिया तथा और लाने के लिए कहा। दासी थाली लेकर फिर से आयी, तो राबिआ ने उन्हें गिना, तो २० पाया। उसने रोटियाँ सन्तों के सामने रख दीं।

भोजन करने के बाद सन्तों ने राबिआ से थाली लौटाने और फिर से स्वीकार करने के बारे में जब पूछा, तो राबिआ ने बताया, "जब आप आए थे, तो मैं जानती थी कि आप भूखे हैं, सोचा कि दो रोटियाँ काफी होंगी, इसलिए दो रोटियाँ दीं, मगर जब उन्हें फकीर को देना पड़ा, तो आपकी भूख बढ़ गयी थी। कुरान में खुदा ने बताया है कि वह एक के बदले दो देता है, इसलिए सोचा कि अगर दोनों रोटियाँ फकीर को खैरात में दूँगी, तो वह परवरदिगार जरूर दुगुनी देगा। लेकिन दासी की १८ रोटियाँ मुझे बेहिसाब दिखाई दीं, तो फिर से लाने को कहा। बीस रोटियाँ वादे के मुताबिक थीं सो आपको दे दीं।

(६) यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः

सिंहल देश (वर्तमानकालीन श्रीलंका) में 'सिरिमा' नामक एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुणी हो गयी है। उसकी बौद्ध धर्म में बाल्यकाल से ही बड़ी निष्ठा थी। माता-पिता ने अपनी इस सुशील, सुन्दरी बालिका को धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ संगीत और काव्य की भी शिक्षा दी थी। बड़ी होने पर उन्होंने सुमंगल नामक एक सुन्दर-सम्पन्न व्यापारी के साथ उसका विवाह कर दिया।

एक बार सुमंगल व्यापार के लिए समुद्रपार देशों में गया। जब वह विपुल धन लेकर वापस लौटा तो वहाँ के प्रतिष्ठित लोग समुद्रतट पर उसका स्वागत करने आये। उन लोगों में नगरी की सबसे सुन्दर एक गणिका भी थी। सुमंगल ने जब उसे देखा, तो वह सुध-बुध खो बैठा और उसका सारा ध्यान गणिका पर ही केन्द्रित रह गया।

बात सिरिमा और गणिका दोनों से छिपी न रही। पति का चित्त विचलित देख घर वापस आने पर सिरिमा ने उससे पूछ ही लिया, "आप उस गणिका के लिए ही उदास हैं न?" सुमंगल ने जवाब दिया, "जब मेरी हालत जानती ही हो, तो ऐसा प्रश्न क्यों कर रही हो?" इसी समय मन्दारमाला नामक उस गणिका का सन्देश लेकर एक दासी आयी। सिरिमा ने उसे देखकर कहा, "जानती हूँ कि तुम यहाँ क्यों आयी हो। अपनी स्वामिनी से कहना कि एक अच्छे कुल का पुरुष उसके कोठे पर जाकर अपने कुल पर कालिमा नहीं लगाएगा, बल्कि वह स्वयं अपना व्यवसाय छोड़कर इस कुल की वधू बनना स्वीकार करे, तो उसका सहर्ष स्वागत है।"

गणिका को भला इसमें क्या आपत्ति थी? दूसरे ही दिन वह सुमंगल के घर आयी और सिरिमा ने मन्दिर ले

जाकर उसके साथ पति का विवाह करा दिया ।

एक दिन एक भिक्षु, जिसके सिर पर चोट लगने से रक्तस्राव हो रहा था, भिक्षा माँगने सिरिमा के द्वार पर आया । सिरिमा ने जब उसके सिर से रक्त बहने का कारण पूछा, तो उसने बताया कि एक स्त्री के द्वार पर भिक्षा माँगने पर उसने चाँदी का एक पात्र फेंककर सिर पर प्रहार किया है । घर का पता पूछने पर सिरिमा जान गयी कि वह स्त्री और कोई नहीं, बल्कि मन्दारमाला ही थी । यह जानकर उसे बेहद दुःख हुआ और वह तुरन्त उसके पास गयी और उसने पूछा कि उसने एक निरपराध भिक्षुक पर अकारण ही क्यों प्रहार किया ?

मन्दारमाला ने रोते हुए जवाब दिया, "मेरा चित्त कल से ठिकाने पर नहीं है, क्योंकि सुमंगल ने तुम्हें त्यागकर मेरे साथ विवाह किया था और मेरा त्यागकर वह कल ही एक अन्य स्त्री के साथ विवाह करने जा रहा है ।"

सिरिमा यह सुन व्यथित हो उठी । घर आकर उसने प्रभु से कातर स्वर में प्रार्थना की, "प्रभु ! सुमंगल की तृष्णा मिटी नहीं है । भोग में लिप्त रहकर वह अपना तथा दूसरों का सर्वनाश करना चाहता है । कृपया तुम उसे सुबुद्धि दो ।" वह रात भर वहीं निश्चल पड़ी रही ।

इधर सुमंगल ने रात्रि में एक भयानक स्वप्न देखा कि मृत्यु के उपरान्त नरक में उसे किस प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी । वह विचलित हो गया और दूसरे ही दिन उसने अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों में बाँट दी तथा स्वयं भिक्षु बन गया ।

o

योगारूढस्तदोच्यते

(गीताध्याय ६, श्लोक १-४)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

आज मे हम छठे अध्याय की चर्चा में प्रवृत्त हो रहे हैं। इसका नाम 'आत्मसंयमयोग' रखा गया है। फिर इसे 'ध्यानयोग' के नाम से भी पुकारते हैं। पिछले अध्याय के अन्त-अन्त में एक प्रकार से इसकी प्रस्तावना कर दी गयी थी। वहाँ यह भी निरूपित हुआ था कि यद्यपि फल की दृष्टि से संन्यास और कर्मयोग ये दोनों रास्ते उसी एक सत्य की प्राप्ति कराते हैं, तथापि कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है। इस अध्याय में भी कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए उसे संन्यास के समकक्ष रखा गया है। इसकी विशेषता यह है कि यहाँ पर आत्म-संयम पर बल दिया गया है और उसे कर्मयोग और संन्यास दोनों का आधार बतलाया गया है। संस्कृत में 'आत्मा' शब्द देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सभी के लिए प्रयुक्त होता है ऐसा पूर्व में हम कह चुके हैं। अतएव 'आत्मसंयम' का अर्थ हुआ देहेन्द्रिय-मनोबुद्धि सबका नियमन। यह नियमन सधने पर ही ध्यान सिद्ध होता है, इसीलिए इस अध्याय को 'ध्यानयोग' का भी सार्थक नाम दिया गया है, जैसा कि ऊपर हम कह चुके हैं। आत्म-संयम के बिना ध्यानयोग की साधना छेदोंवाले घड़े में जल भरने की चेष्टा के समान विफल हो जाती है।

यह ध्यानयोग क्या है? 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के अनुसार ध्यानयोग वह उपाय है, जिसके द्वारा अपने गुणों

से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार होता है—'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (१/३)। परमात्मा की यह त्रिगुणात्मक शक्ति ही 'माया' कहलाती है। ध्यानयोग के द्वारा साधक इस माया को भेदने में समर्थ होता है। एक दूसरी दृष्टि से मन को, अन्तःकरण को माया का पर्याय माना जा सकता है, क्योंकि मन भी त्रिगुणात्मक है और वही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। शास्त्र कहते भी हैं—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। जब तक मन का भेदन नहीं हुआ, तब तक वह बन्धन का कारण है और उसका भेदन होने पर वही मन मोक्ष का कारण हो जाता है। ध्यानयोग के द्वारा साधक मन के भेदन का ही अभ्यास करता है।

ध्यानयोग का तात्पर्य मात्र मन की एकाग्रता से नहीं है। वैसे तो मन अपनी अभिरुचि के विषय में अपने आप एकाग्र हो जाता है। संगीतज्ञ जब गाता है, तब उसमें उसका पूरा मन डूब जाता है। चित्रकार चित्र आंकते समय दीन-दुनिया को बिसर जाता है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' नाटक में हम पढ़ते हैं कि दुष्यन्त के ध्यान में शकुन्तला इतनी तल्लीन थी कि उसे दुर्वासा की आहट नहीं सुनाई पड़ी और फलस्वरूप उसे मुनि का कोपभाजन होना पड़ा। इन सब प्रकरणों में मन की जो एकाग्रता दिखाई देती है, वह योग की एकाग्रता नहीं है। यहाँ पर चित्त की वृत्तियाँ दुनिया की तमाम जगहों से सिमटकर अपनी अभिरुचि के विषय में एकाग्र हो जाती हैं। पर ध्यानयोग में चित्त की ये वृत्तियाँ बाहर अन्यत्र कहीं पर नहीं अपितु मन पर ही एकाग्र की जाती हैं। तो, ध्यानयोग

वह उपाय है, जिसके द्वारा चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों को समेटकर चित्त पर ही उन्हें एकाग्र किया जाता है। यही मन को भेदने की प्रक्रिया है। आत्म-संयम इसका सक्षम उपाय है। पर आत्म-संयम चित्त की शुद्धि के बिना सधता नहीं और चित्त के शोधन के लिए निष्काम कर्म एक प्रभावी साधन के रूप में हमारे समक्ष आता है। इसीलिए——

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥६/१॥

श्रीभगवान् (श्री भगवान्) उवाच (बोले)—यः (जो) कर्म-फलम् (कर्म के फल को) अनाश्रितः (आश्रय न करके) कार्यं (कर्तव्य) कर्म (कर्म) करोति (करता है) सः (वह) च (ही) संन्यासी (संन्यासी) च (और) योगी (योगी है) निरग्निः (अग्नि को त्यागनेवाला) न (नहीं) च (और) अक्रियः (क्रियाहीन) न (नहीं)।

"श्री भगवान् बोले—जो कर्मफल का आश्रय न लेते हुए करणीय कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है, न तो निरग्नि और न क्रियाहीन।"

यहाँ पर पुनः कर्मफल के त्याग पर जोर दिया जा रहा है। भगवान् कृष्ण 'निरग्नि' और 'अक्रिय' ऐसे दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'निरग्नि' का अर्थ कई लोगों के द्वारा ऐसा किया जाता है कि वह आग का उपयोग नहीं करेगा, अग्नि पर रसोई नहीं बनाएगा, अपने हाथ नहीं सेंकेगा। पर यह उसका शास्त्रीय अर्थ नहीं है। वैदिक परम्परा में गृहस्थ को अग्निहोत्र करने का निर्देश दिया

गया है। व्यक्ति के संन्यास ले लेने पर उसे फिर अग्निहोत्र नहीं करना पड़ता। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में 'पंचाग्नि-क्रम' के सन्दर्भ में ऋषि कह रहे हैं—'योषा वाव गौतमाग्निः' (५/८/१), अर्थात् गौतम, स्त्री ही अग्नि है। इस प्रकार पति-पत्नी-सम्बन्ध भी एक अग्नि है। अतएव निरग्नि का अर्थ पति-पत्नी-सम्बन्ध का त्याग भी है। गृहस्थ जीवन में व्यक्ति को आहवनीयाग्नि, होत्राग्नि, योषाग्नि, लौकिकाग्नि इन सब प्रकार की अग्नियों से सम्बन्ध रखना पड़ता है। जो इन अग्नियों का त्याग कर दे, उसे 'निरग्नि' कहते हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार संन्यास के इच्छुक व्यक्ति को इन अग्नियों का त्याग करना पड़ता था। तो, यहाँ पर यह कहा जा रहा है कि मात्र अग्नि का त्याग कर देने से कोई व्यक्ति संन्यासी नहीं हो जाता। संन्यास तो मन की प्रक्रिया से जन्म लेता है। कोई अपना कपड़ा दस पैसे के गेरु में रँगाकर गेरुआ कर ले, तो मात्र इतने से वह संन्यासी नहीं कहलाएगा। इसी प्रकार 'अक्रिय' वह है, जो क्रियाविहीन हो गया है। एक व्यक्ति योगी बनने के लिए ध्यान लगाता है और निश्चेष्ट बैठ जाता है। प्रश्न यह है कि कोई यदि क्रियाविहीन होकर बैठ जाय तो क्या उतने से ही वह 'योगी' बन गया? भगवान् कृष्ण उत्तर देते हैं—"नहीं।" जैसे संन्यास कोई क्रिया न होकर मन की अवस्था है, वैसे ही योग भी किसी शारीरिक क्रिया का भाव या अभाव न होकर पूरी तरह से मन की अवस्था है। 'पातंजलयोगसूत्र' में योग की परिभाषा देते हुए कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—चित्तवृत्तियों का निरुद्ध हो जाना ही योग की स्थिति है। हम भले ही आसन लगाकर, निश्चेष्ट होकर बैठ जायँ, पर इसका मतलब यह नहीं है कि हमारा मन

भी निश्चेष्ट हो जाएगा। हम बाहर से 'अक्रिय' हो सकते हैं, पर मन की हमारी अवस्था भयानक रूप से चंचल हो सकती है। मुझे दीर्घकाल तक आसन में निष्चेष्ट बैठा देख लोग 'योगी' की अभिधा दे सकते हैं, पर यदि मैं अपने प्रति सच्चा हूँ, तो कहूँगा कि मैं मात्र अक्रिय हूँ, योगी नहीं बना, क्योंकि मेरा मन दुनिया में चक्कर लगा रहा है। मैं योगी तो तब बनूँगा, जब मेरा मन भी निश्चेष्ट हो जाएगा, जब मेरी चित्तवृत्तियाँ शान्त होकर समाहित हो जाएँगी।

इसी प्रकार कोई मुझे अग्नियों का त्याग कर देने के कारण, गृहस्थी छोड़कर संन्यास का बाना धारण करने के कारण संन्यासी कह सकता है, पर मैं सही अर्थों में संन्यासी न भी होऊँ। मात्र गेरुआ पहन लेने से ही कोई संन्यासी नहीं हो जाता। अग्नि का त्याग करके कोई 'निरग्नि' भले हो जाय, पर यह आवश्यक नहीं कि वह संन्यासी भी होवे। तात्पर्य यह कि संन्यासी या योगी होना मात्र बाह्य क्रियाओं पर अवलम्बित नहीं है। प्रस्तुत प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध में यह बतला रहे हैं कि संन्यासी और योगी का सही लक्षण क्या है। वह है—'कर्मफल का आश्रय न रखते हुए कर्तव्य-कर्म सम्पादित किये जाना।' जो कर्मफल पर आश्रित होकर कर्म करता है, वह भले ही बाने से संन्यासी हो, उसने भले ही अग्नि का त्याग कर दिया हो, पर वह यथार्थ संन्यास के आदर्श से बहुत दूर है।

यहाँ पर 'अनाश्रितः कर्मफलं' कहा, अर्थात् कर्मफल संन्यासी या योगी के जीवन का 'आधार' नहीं होता। कर्मफल की इच्छा को यहाँ नकारा नहीं गया है। मनुष्य जब परार्थ—दूसरों की सहायतार्थ—कर्म करता है, तब भी उसमें कर्मफल की इच्छा होती है, पर वह इच्छा इतनी

बलवती न हो जाय कि वही कर्म करने का आधार बन जाय। सामान्यत: मनुष्य जब सेवा-कार्यों में लगता है, तो कर्मफल ही उसकी कर्म-प्रेरणा का आधार बन जाया करता है। यह इसलिए होता है कि वह भूल जाता है कि कर्मफल पर उसका अधिकार नहीं है, उसका अधिकार तो मात्र कर्म करने पर ही है; वह भूल जाता है कि कर्मफल उसकी इच्छा से नहीं मिलेगा, वह तो कर्म की गुणवत्ता होगी जो फल प्रदान करेगी। जब हम कर्मफल का आश्रय छोड़-कर और ईश्वर का आश्रय पकड़कर कर्तव्य-कर्म करते हैं, तो उसमें संन्यास की भी पात्रता प्राप्त होती है तथा योगी होने की भी। संन्यासी में त्याग की प्रधानता होती है और योगी में बुद्धि की समता की। कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करने से अपने लिए कुछ पाने की इच्छा का अभाव हो गया और इस प्रकार कामनारूपी अग्नि का त्याग सध गया। यह सच्चा संन्यास है। घर में पत्नी है पर योषाग्नि का त्याग है, कर्म हो रहे हैं पर कामनाग्नि का त्याग है, तो ऐसा त्यागी व्यक्ति संन्यासी ही कहा जाएगा। उसी प्रकार, मात्र आसन लगाकर बैठ जानेवाला, बाह्य क्रिया से रहित व्यक्ति 'अक्रिय' तो हो सकता है, पर मन की चंचलता और चाह के रहते उसकी बुद्धि समत्व से दूर रहेगी, उसके भीतर अहंता-ममता और राग-द्वेष का खेल चलता रहेगा, और इसलिए वह योगी नहीं कहलाएगा। ईश्वराश्रित होकर कर्तव्य-कर्म करने से, कर्म की सफलता-विफलता में ईश्वर की ही मंजुल और मांगलिक इच्छा को देख, वह अपनी बुद्धि को असन्तुलित होने से बचा सकेगा तथा बाहर से उसका जीवन कर्मसंकुल दिखता हुआ भी वह सही अर्थों में योगी होने की पात्रता अर्जित कर लेगा।

भगवान् कृष्ण अर्जुन को 'कार्यं कर्म' (करणीय कर्म, कर्तव्य-कर्म) करने का निर्देश देते हैं। करणीय कर्म को स्वभावप्राप्त कर्म या सहज कर्म भी कहते हैं। जो कर्म मुझे अनायास प्राप्त है, उसके विकर्म और अकर्म इन दो रूपों से दूर रहकर उसका उद्यमपूर्वक अनुष्ठान ही मेरे लिए कर्तव्य-कर्म है। विकर्म का तात्पर्य है विपरीत कर्म—ऐसा कर्म जो शास्त्रनिन्दित या समाजनिन्दित है, जिसे हम सामान्य भाषा में अशुभ या बुरा कर्म कहते हैं। अकर्म का अर्थ है आलस्य, प्रमाद, तमोगुण की अधिकता से निकलनेवाली क्रियाहीनता की स्थिति। इस पर हमने अपने ६२ वें गीताप्रवचन में विस्तार से विचार किया है।

कई लोग कर्तव्य-कर्म को वर्णाश्रम-विहित कर्म भी कहते हैं। पर आज युग के प्रभाव से जब एक ब्राह्मण जूते की दुकान खोलकर बैठे और वानप्रस्थाश्रम का नामो-निशान न हो, तब वर्णाश्रम की दुहाई देते हुए उसके अनुसार चलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। ऐसी दशा में व्यक्ति के लिए कर्तव्य-कर्म वह है, जो उसे सहज रूप से प्राप्त है।

श्लोक के उत्तरार्ध में 'स संन्यासी च योगी च' इस प्रकार दो बार 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो आपातदृष्टि से अनावश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि एक बार 'च' का प्रयोग ही यथेष्ट होता। पर यहाँ पर भगवान् कृष्ण जोर देकर कहना चाहते हैं कि 'वही संन्यासी है, वही योगी है'। 'निरग्नि' और 'अक्रिय' से संन्यासी और योगी की नितान्त भिन्नता प्रदर्शित करने में भी अतिरिक्त 'च' की सार्थकता है।

पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं लेना चाहिए कि अग्नि का त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है अथवा यह कि बाह्य

क्रियाओं को त्यागकर ध्यान में बैठनेवाला योगी नहीं है। जिसने भलीभाँति अग्नि का सर्वथा त्याग कर दिया है और जिसमें ज्ञान के शास्त्रसम्मत लक्षण प्रकाशित हैं, वह सचमुच एक महापुरुष है और आदर्श संन्यासी है। इसी प्रकार जो अपनी वासनाओं के शमन के फलस्वरूप अन्तर्मुख हो गया है तथा जिसमें काम-क्रोध और राग-द्वेषादि विकारों का नाश होकर, उससे उपजी ध्यानपरायणता के कारण बाह्य-क्रिया का अभाव हो गया है, वह सही मायने में योगी है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।६/२।।

पाण्डव (हे अर्जुन) यं (जिसे) संन्यासम् (संन्यास) इति (ऐसा) प्राहुः (कहते हैं) तं (उसे) योगं (योग) विद्धि (जान) हि (क्योंकि) असंन्यस्तसंकल्पः (संकल्पों का जिसने त्याग नहीं किया है ऐसा) कश्चन (कोई भी पुरुष) योगी (योगी) न (नहीं) भवति (होता)।

"हे अर्जुन, जिसे संन्यास ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग जान; क्योंकि संकल्पों का त्याग जिसने नहीं किया है ऐसा कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।"

प्रथम श्लोक में संन्यासी और योगी का समान लक्षण बतलाते हुए कहा गया कि दोनों के दोनों अपना कर्तव्य-कर्म करते हैं और कर्मफल को अपने कर्मों का आधार नहीं बनाते। ऐसे व्यक्ति को चाहे संन्यासी कह लो, चाहे योगी। अब यहाँ पर दूसरे श्लोक में कह रहे हैं कि जिसे 'संन्यास' कहते हैं, उसी को 'योग' भी समझना चाहिए। हम पूर्व में 'संन्यास' और 'योग' शब्दों का अर्थ देख चुके हैं। 'संन्यास' का सम्बन्ध सांख्ययोग से है और 'योग' का कर्मयोग से।

जब सांख्ययोग की सहायता से साधक अपने शरीर, इन्द्रिय और मन द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्तापन का भाव मिटा देता है तथा उस परमतत्त्व के साथ अभिन्नता का अनुभव करते हुए जीवन-यापन करता है, तो वह 'संन्यास' की स्थिति है। इसी प्रकार जब वह ममता और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता हुआ उसका फल भी अपने लिए नहीं चाहता और उसे ईश्वर-समर्पित कर देता है, तो यह योग की स्थिति हुई। दोनों ही स्थितियों में साधक आत्मनिष्ठ अथवा ईश्वरनिष्ठ हो स्थित रहता है, उसमें 'मैं' और 'मेरा' को लेकर कोई संकल्प नहीं होते। इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जिसे संन्यास कहा जाता है, उसे तू योग ही समझ--दोनों में कोई अन्तर न कर।

श्लोक के उत्तरार्ध में बतलाया कि जिसने संकल्पों का त्याग नहीं किया, वह किसी भी दशा में योगी नहीं हो सकता। 'संकल्प' अन्तःकरण की वह वृत्ति है, जो अहं-मम से जुड़ी रहती है, फलस्वरूप राग-द्वेष ही 'संकल्प' का आधार हुआ करता है। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ बुद्धि की समता नहीं होती। फलतः योग भी उसके द्वारा नहीं सधता, क्योंकि 'समत्वं योग उच्यते' (बुद्धि का समत्व ही योग कहलाता है)। अतएव जो योगी होना चाहता है, उसे अपने संकल्पों का अभाव करना सीखना चाहिए। और यही शर्त संन्यास की भी है। इसीलिए संन्यास और योग दोनों को एकरूप बताया गया है। दोनों में मनःस्थिति समान होती है, अन्तर केवल दृष्टि का होता है। संन्यासी जगत् को प्रपंचवत् देखता हुआ अपनी क्रियाओं के प्रति ऐसी दृष्टि रखता है कि गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं, वह साक्षीभाव में स्थित होने की चेष्टा करता है; जबकि योगी क्रियाओं का

कर्तापन और भोक्तापन ईश्वर को सौंप देता है और अपने को अपने द्वारा किये गये कर्मों और उनके फलों से असंग मानता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।६/३।।

योगम् ([समत्वबुद्धिरूप] योग में) आरुरुक्षोः (आरूढ़ होने की इच्छावाले) मुनेः (मुनि के लिए) कर्म (कर्म) कारणम् (कारण) उच्यते (कहा जाता है) तस्य (उस) योगारूढस्य (योगारूढ पुरुष के लिए) शमः ([कर्मों का] उपशम) एव (ही) कारणम् (कारण) उच्यते (कहा जाता है)।

"योग में आरूढ़ होने की इच्छा करनेवाले मुनि के लिए कर्म को कारण बताया गया है और जो योगारूढ़ हो गया है, उसके लिए (कर्मों का) उपशम ही (शान्ति पाने का) कारण कहा गया है।"

इस श्लोक की तरह-तरह से टीकाएँ की गयी हैं। जो ऐसा मानते हैं कि गीता का तात्पर्य कर्मों के संन्यास में है, वे 'शमः' शब्द का अर्थ कर्मनिवृत्ति करते हैं। वे कहते हैं कि योगारूढ़ पुरुष के लिए कर्म का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, इसलिए उसे कर्मों का संन्यास कर देना चाहिए, तभी वह शान्ति का अधिकारी बनता है। वे कहते हैं कि कर्म की आवश्यकता योग की सीढ़ियों में चढ़ने के लिए होती है, पर हाँ, यह आवश्यक है कि कर्म निष्काम हों।

जो मनन-विचार करता है, वह 'मुनि' है। 'मुनि' कहकर यह ध्वनित किया कि साधक विवेकी है। उसमें योग की चरम स्थिति को प्राप्त करने की इच्छा है, वह आरोहण करना चाहता है, ऊपर उठना चाहता है। उसके लिए निष्काम कर्म को कारण बताया। यह निष्काम कर्म भी बड़ा अद्भुत है। यदि वह ईश्वर-प्रीत्यर्थ किया जाय,

तो उनसे ईश्वर मिलते हैं, और यदि साक्षीभाव में स्थित हो किया जाय, तो स्वस्वरूप में स्थित कर देता है।

जब इस प्रकार निष्काम कर्म की सीढ़ी से चढ़कर साधक योग की चरम स्थिति को पा लेता है, तो वह 'योगारूढ़' कहलाता है। ऐसा योगारूढ़ व्यक्ति शान्ति पाने के लिए अब कर्मों के उपशम को उसका कारण बनाता है। कर्मों के उपशम का अर्थ कर्मों का त्याग नहीं है, अपितु यह है कि कर्म का बाहरी क्रियात्मक रूप दब जाता है, पर उसकी भीतरी क्रियाशीलता बनी रहती है।

इसे हम एक दृष्टान्त द्वारा समझाएँ। मान लीजिए मैं अपनी श्रान्ति, अपनी थकावट दूर करना चाहता हूँ। मैंने सुना है कि जो व्यक्ति तैरना जानता है, वह तैरकर अपनी थकावट दूर कर लेता है और तरोताजा अनुभव करता है। अब कल्पना करें कि मैं विश्रान्ति की यह अवस्था पाना चाहता हूँ। तब तो मुझे तैरना सीखना होगा। वह सीखने के लिए मुझे हाथ-पैर मारना-रूप कर्म करना होगा। यह कर्म पहले-पहल मुझे थका देगा, पर जब अभ्यास करते-करते, एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ते-चढ़ते मैं उस स्थिति को पा लेता हूँ, जिसमें मैं पानी में शववत् चित लेट जाता हूँ, तब तो यह आपातदृष्टि से कर्मविहीन क्रिया मेरी सारी थकावट हर लेगी और मुझे विश्रान्ति प्रदान करेगी। जल में चित होकर शववत् सोने का अभ्यास करने में मुझे प्रबल कर्म में से गुजरना होता है, पर जब यह अभ्यास सध जाता है तो वह मानो योगारूढ-अवस्था को पाने की तुलना हो गयी; तब कर्मों का उपशम हो जाता है। मुझे हाथ-पैर नहीं पटकने पड़ते। बाहरी सारी शारीरिक क्रिया थम जाती है। यही 'शम' की तुलना है। यह अवस्था भले ही ऊपर से

कर्मों के त्याग की अवस्था मालूम हो, पर इसमें वस्तुतः कर्मों का त्याग नहीं है, बल्कि उन्हें भीतरी तौर पर प्रबल बना दिया जाता है। जल पर चित सोने म कितना प्रबल कर्म निहित है, यह उसका साधनेवाला ही जान पाता है। इस प्रकार योगारूढ़-स्थिति को प्राप्त करने के लिए तीन बातें बतायी गयीं—(१) आरुरुक्षा—चढ़ने की इच्छा, अपने स्वरूपभूत पद पर आरूढ़ होने की आकांक्षा, (२) मननशीलता, विवेकशीलता—यह निश्चयपूर्वक जान लेना कि कैसे आरोहण किया जाय, और (३) साधना, जिसे प्रस्तुत श्लोक में 'कर्म' और 'शम' कहकर सम्बोधित किया गया है। यह कर्म ही परिपक्व होने पर शम का रूप लेता है। तैरना सीखते समय हाथ-पैर का पटकना ही अन्त में चेष्टाहीनता का रूप धारण करता है। तैरने की यह कला ही साधना के रूप में, कर्म के रूप में निरूपित हुई है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।६/४।।

यदा (जब) इन्द्रियार्थेषु (इन्द्रियों के विषय में) न (नहीं) अनुषज्जते (आसक्त होता है) [तथा (और)] न (न) हि (ही) कर्मसु (कर्मों में) तदा (उस समय) [ऐसा] सर्वसंकल्पसंन्यासी (सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष) योगारूढः (योगारूढ़) उच्यते (कहा जाता है)।

"जब न तो वह इन्द्रियों के विषय में आसक्त होता है, न ही कर्मों में, उस समय (ऐसा) सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।"

वैसे तो तीसरे श्लोक में भी योगारूढ़ शब्द की प्रकारान्तर से व्याख्या कर दी गयी है, पर यहाँ पर और

भी खुलासा करके बता दे रहे हैं कि साधक कब योगारूढ़ कहलाता है। यहाँ पर योगारूढ़ के तीन लक्षण बतलाये गये हैं—(१) इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति का अभाव, (२) कर्मों में आसक्ति का अभाव और (३) सब प्रकार के संकल्पों का त्याग। योगारूढ़ व्यक्ति वह है, जिसमें ये तीनों लक्षण होते हैं। ऐसा सम्भव है कि कोई इन्द्रिय-भोगों में आकर्षण का अनुभव नहीं करता, पर कर्मों में आसक्त होता है। मैं एक अच्छे सेवाभावी सत्पुरुष को जानता हूँ, जो इन्द्रिय-विषयों के आकर्षण से ऊपर उठे हुए हैं, पर अपने सेवा-कार्यों की आसक्ति को नहीं छोड़ पाये हैं। वे सेवा-कार्यों में इतना रमे रहते हैं कि इन्द्रियों को प्रिय लगनेवाली बातें उनको सेवा-कर्म से विचलित नहीं कर पाती हैं। बाह्य दृष्टि से यह बड़ी प्रशंसनीय बात है, पर जब आध्यात्मिक जीवन की बात आती है, तब यह कर्मासक्ति भी बाधक बनकर खड़ी होती है। इस कर्मासक्ति से योग नहीं सध पाता। तो, योगारूढ़ होने के लिए इन्द्रिय-भोगों के प्रति विराग हो, साथ ही कर्मों में आसक्ति न हो। इसे साधने के लिए संकल्प-त्याग का अभ्यास करना पड़ता है। हम पूर्व में कह चुके हैं कि संकल्प-त्याग का अर्थ सद्वृत्ति की स्फुरणा का त्याग नहीं है, अन्यथा ईश्वर-लाभ भी सम्भव नहीं हो पाएगा, क्योंकि बिना संकल्प जगाये मनुष्य अध्यात्म-पथ पर भी अग्रसर नहीं हो पाता। अतएव 'सर्वसंकल्प संन्यास' से हमें यही समझना होगा कि आसक्ति, ममता और द्वेषपूर्वक जो सांसारिक चिन्तन किया जाता है, उस सबका त्याग करना। जब साधक के जीवन में ऐसे तीन लक्षण आकर मिलते हैं, तब वह योगारूढ़ की पदवी सही मायने में प्राप्त करता है।

इस योगारूढ़ और दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ में कोई अन्तर नहीं है। कर्मयोग की पद्धति मे योग की जिस उच्चतम स्थिति में साधक पहुँचता है, उसे 'योगारूढ़' कहा जाता है, और सांख्ययोग की पद्धति से जो उच्चतम अवस्था हासिल होती है, उसे 'स्थितप्रज्ञ' के नाम से जाना जाता है। दोनों के सामान्य लक्षण एक से ही हैं।

O

श्रीरामकृष्ण-महिमा (१७)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंग-भाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर के संचालक हैं।--स०)

भक्त--ठाकुर के बहुत से धनी-मानी और गुणी भक्तों ने भी पहले यानी ठाकुर का दर्शन करने से पहले, केवल उनका नाम सुनकर, कहा था--इस उम्र में कितने हंस हमने देख लिये ! यदि कभी (दक्षिणेश्वर) गया, तो उनकी नाक रगड़ आऊँगा; किसी दूसरे ने कहा था--दो बातें कहकर उन्हें मूक बना आऊँगा। गिरीशबाबू ने भी प्रथम दर्शन के समय कहा था—इस उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत बुजुर्गी देख ली, किन्तु प्रभु की कैसी मोहिनी शक्ति है ! उनके सरल बालकवत् स्वभाव और परमानन्दमय मूर्ति के एक या दो बार दर्शन करने से ही अभिमानी भक्त इस

जन्म के लिए तो उनके चरणों में बिक गये, उनकी पहले की युक्ति-तर्क और विचार करनेवाली बुद्धि और अभिमान आदि रामकृष्ण-रूप-सागर में कहाँ डूब गये उसका कहीं अता-पता न चला। ठाकुर परम रूपवान् हैं—एक बार उन्हें देखने पर फिर बचने का रास्ता नहीं। अरूप के द्वारा रूप की ऐसी अनुपम सृष्टि किसी ने कभी देखी ही नहीं। उनके केवल रूप में ऐसी मोहिनी शक्ति हो ऐसी बात नहीं, उनके गुण में भी वैसी ही मोहिनी शक्ति है। उनका रूप देखो तो दो सुन्दर बाँके नयन, कान तक खिचे हुए। फिर उन नेत्रों में ऐसा जबरदस्त आकर्षण कि वे जिसकी ओर फिर जायँ उसकी रक्षा नहीं! प्रशस्त ललाट, किंचित् ललामी लिये हुए पके बिम्ब फल के समान ओष्ठद्वय, अनुपम मुखमण्डल जिस पर धीर मन्द समीरण द्वारा आन्दोलित कालिन्दी के स्वच्छ जल की नाईं मृदु हास्य अठखेलियाँ कर रहा हो, मानो उस पर चन्द्रमा की स्निग्ध किरणें मल दी गयी हों, सुगढ़ ग्रीवा, कण्ठ में मुरली का स्वर, विशाल वक्षस्थल, आजानुबाहु, शोभनीय चरण-युगल, कमल से भी अधिक कोमल चरणतल, स्पर्श में पारसमणि का गुण—ये समस्त गुण पूरी मात्रा में उनके श्रीअंगों में भरे हुए हैं। इनमें दया का गुण रुपये में बीस आना है! फिर वे दया का वितरण भी मुक्त हस्त से करते हैं। तिल की जगह ताड़ का दान करते हैं, इसी से दर्शक विभोर हो जाते हैं। इसीलिए किसी को यह देखने का समय ही नहीं मिलता कि श्रीआधार में कितना क्या है। उनकी लीला अत्यन्त गहरी है, पाताल भी अपना तला खोज नहीं पाता। बाहरी ऐश्वर्य तिलमात्र नहीं है, किन्तु उनका भीतरी ऐश्वर्य ऐसा है कि उसमें कोटि-कोटि विश्व समा

जाते हैं। इसलिए रामकृष्ण-लीला मुँह से कही नहीं जा सकती। यह लीला सुनने की नहीं, केवल देखने की है। जो दिखाई देता है, उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। ठाकुर जिस प्रकार गुप्त अवतार थे, उनकी लीला भी वैसी ही है। अद्भुत खेल है उनका! महाव्यक्त होकर भी महागुप्त। जो अत्यन्त सरल होता है, उसे समझना उतना ही कठिन होता है। जैसे अति सरलता में अत्यन्त जटिलता होती है, ठीक वैसे ही व्यक्त-अवतार में गुप्त-अवतार का भाव छिपा रहता है। जब तक वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती, एक ही वस्तु के विपरीत भावों का खेल समझा नहीं जा सकता।

पाठक—ठीक तो है, महाशय। यहाँ की बातें सुनने में अच्छी लगती हैं, किन्तु कुछ समझ में नहीं आता। बाहर का ऐश्वर्य और भीतर का ऐश्वर्य क्या है? व्यक्त होकर भी गुप्त, सरल अथवा सीधा होकर भी जटिल—यह क्या पहेली है?

भक्त—ईश्वर की लीला के तत्त्वों को इतना खुलासा करके नहीं बताया जा सकता, इंगित-इशारे द्वारा समझ लेना होता है। आँख, नाक, शरीर की भंगिमाओं से जिस प्रकार बतलाया जा सकता है, वैसा वचनों से सम्भव नहीं। मैं सब समय तुमसे कह ही रहा हूँ—मैं मूर्ख आदमी हूँ, भाषा-ज्ञान नहीं, शास्त्र-अध्ययन नहीं, तीर्थ-पर्यटन नहीं, साधन-भजन नहीं, मेरी बल-बुद्धि, आशा-भरोसा सब श्रीरामकृष्ण ही हैं। वे जैसा दिखाते हैं, उपलब्धि कराते हैं, उसे किसी प्रकार कोशिश करके तुमको बता भर देता हूँ। बाह्य ऐश्वर्य किसको कहते हैं जानते हो? जिस ऐश्वर्य के बल से पत्थर मनुष्य बन गया, लकड़ी की नाव सोने की हो गयी, विशाल शिव-धनुष बालक के हाथ से टूट गया, भयंकरी ताड़का का वध हुआ, पानी के ऊपर भारी पत्थर

तैरने लगे; कनिष्ठ अँगुली पर पहाड़ उठा लिया गया, दुधमुँहे शिशु द्वारा राक्षसी के प्राण हरे गये, वंशी की तान सुनकर यमुना की धारा उलटी बहने लगी, देखते-देखते कृष्ण काली हो गये, चतुर्मुख ब्रह्मा भ्रम में पड़ गये, हाथ से मस्तक कट गया, तीन पग में त्रिभुवन नाप लिया गया, दाँतों पर पृथ्वी का भार सम्भाल लिया गया, इत्यादि-इत्यादि—यह सब बाह्यैश्वर्य का खेल है; यह खेल रामकृष्ण-लीला का विषय होते हुए भी उसका विषय नहीं है। यहाँ शुद्ध-सत्त्व का खेल है—जिसके बल के कारण एक शब्द में ही भीतर का चिर-सुप्त साँप जाग उठा, अवाक्-रंगमहल का द्वार खुल गया, चिर आसक्ति की वस्तुओं पर अनासक्ति हो गयी, अपने जो थे वे पराये हो गये और जो पराये थे वे अपने हो गये, मन की गति का रंग बदल गया, कोटि-कोटि जन्मों का रास्ता एक पल में पार हो गया, इन्द्रियों को भी नयी खुराक मिली, जगत् नवीन हो उठा, देह आत्मा से अलग हो गयी, कंकाल चल पड़ा, वेद-पुराणों का भाव अपने आप अन्दर फूट पड़ा, अनन्तकोटि वस्तुएँ एकत्व में मिलकर खो गयीं, एक ही वस्तु अनन्त रूप, वर्ण, गन्ध, रस और शब्द में परिणत हो गयी, भला-बुरा एक ही बिछौने पर लेटकर सो गये, और जिस भगवान् के द्वार के भीतर जाने में इन्द्र, चन्द्र, पवन, वरुण, यम इत्यादि भय से काँपते हैं, वे ही भगवान् अपने से भी अपने हो गये—यह सब श्रीरामकृष्णदेव के खेल के अन्तर्गत है। बाह्यैश्वर्य के कार्य इन्द्रियों की समझ के भीतर हैं, इसीलिए उनका बखान किया जा सकता है, किन्तु भीतरी ऐश्वर्य के कार्य इन्द्रियों के विषय होते हुए भी उनके विषय नहीं हैं इसलिए कह रहा हूँ कि रामकृष्ण-लीला कहने की वस्तु नहीं है,

केवल देखने की है। रामकृष्ण-लीला जो एक-एक करके समझता जा रहा है, उसके मुख से भला बोल कैसे निकलेंगे? जरा सोचो यह जो अवाक् रंग है, उसे क्या बतलाया जा सकता है, या किसी को समझाया जा सकता है?

दूसरी बात, रामकृष्णदेव व्यक्त होते हुए भी गुप्त और अत्यन्त सरल-सीधे होते हुए भी अत्यन्त जटिल हैं— यह किस प्रकार है सो धीर-स्थिर होकर सुनो। रामकृष्णदेव का जन्म-स्थान एक ऐसा स्थान था, जिसकी उनके जन्म के पूर्व जनसाधारण को जानकारी होने का कोई कारण न था। जहाँ उनके पितृदेव की वासस्थली थी, जिस पुण्य भूमि पर प्रभु का जन्म हुआ, वह गाँव के भद्र लोगों के घरों के बीच था। वह स्थान गाँव के हिस्से में था, जिसके रहवासी थे जुलाहा, बुनकर और डोम, जिन्हें हिन्दू निम्न या अछूत मानते हैं। पास ही था श्मशान, नाना प्रकार के वृक्षों और जोखिमों से भरा मैदान, हमेशा मुर्दे के प्रति लोलुप दृष्टि रखनेवाले गीध, कुत्तों और गीदड़ों के खेल का स्थान, पास ही एक खाई थी जहाँ साँझ होने पर अकेले जाने का साहस न होता था। पिता कोई धनवान् नहीं थे, सम्पत्ति के नाम पर मात्र सात बीघा जमीन, गरीबी की सीमा तक; किन्तु समझ लो कि वे दीन नहीं थे। अहाते के भीतर रहने का एक कमरा, अर्थाभाव के कारण लकड़ी की बजाय बाँस से ही सजा हुआ, छोटी-सी झोपड़ी के समान एक पूजा का कमरा, एक रसोई का कमरा और एक ढेंकीशाला, अर्थात् धान कूटने की जगह। स्थानाभाव के कारण प्रभु भूमिष्ठ हुए इस ढेंकीशाला में। जन्म के बाद उनकी देखभाल का काम लुहार-परिवार की एक दुःखी विधवा ने किया। पास में धनी लोगों के घर हैं, उनके बड़े

परिवार हैं, घर में अनेक लड़के-बच्चे हैं; फिर भी रामकृष्ण कुछ बड़े होने पर उन लोगों के बच्चों के साथ उतने घुले-मिले नहीं जितने दीन-दुःखी छोटे-छोटे लोगों के बच्चों के साथ। उनके साथ सब समय रहना, उनके साथ खेलना, उनके साथ गाय चराना। लिखने-पढ़ने का नाम भी नहीं। कुछ बड़े होने पर अभिभावकों के जोर देने पर पाठशाला गये, किन्तु लिखने-पढ़ने में बिल्कुल मन नहीं। बहुत मुश्किल से वर्णमाला के साथ कुछ-कुछ परिचय हुआ, तालपत्र पर भगवान् का नाम लिखना सीखा। पर यहीं पर पढ़ाई शेष। यौवन के प्रारम्भ में मन्दिर में पुजारी-पद पर नियुक्त हुए, यह मन्दिर केवट का था, इस मन्दिर में कोई उच्च जाति के लोग प्रसाद ग्रहण नहीं करते थे। मन्दिर की मालकिन सुप्रसिद्ध रानी रासमणि थीं; उनके द्वारा प्रतिष्ठित माँ-भवतारिणी और राधाकान्त के, विपुल आयोजन के साथ, नित्य भोग-राग की व्यवस्था थी। सुना है, प्रसाद ग्रहण करनेवालों के अभाव में प्रसाद को गंगा में फेंक दिया जाता था। 'केवट के द्वारा प्रतिष्ठित भगवान् का प्रसाद' कहकर भले लोग उसे ग्रहण नहीं करते थे! रामकृष्णदेव इसी मन्दिर के पुजारी-पद पर नियुक्त हुए। वे मन्दिर की सेवा अन्य पुजारियों की भाँति विधि-विधान और पूजा-पद्धति से नहीं कर पाते थे। वे तो महाप्रेम से देवी-देवताओं की सेवा-पूजा करते और उन्हें वस्त्र पहना देते। सामान्य जीवों की प्रकृति और रामकृष्ण की प्रकृति एकदम विपरीत थीं, इस कारण नियम-आचारवाले लोगों की दृष्टि में ये पागल कहलाकर जाने जाने लगे। इस पर उनके बड़े भाई रामकुमार ठाकुर को देश (कामारपुकुर) ले गये और उनका विवाह कर दिया। जिनकी कन्या के

साथ विवाह हुआ, वे भी ठहरे एक पूजा-अनुष्ठान-कर्म करानेवाले ब्राह्मण। खूब गरीब थे वे भी, पाँच-छह लोगों का पालन-पोषण करना होता, कष्ट से दिन कटते थे। देश में प्रचलित प्रथा के अनुसार ठाकुर को विवाह करने में दहेज देना पड़ा, वह भी कोई कम नहीं, पूरे तीन सौ रुपये। ठाकुर का स्वभाव ठीक एक छोटे बालक के स्वभाव जैसा था। सत्त्व, रज, तम—इन तीनों की कोई गन्ध नहीं थी, अपने-पराये का कोई विचार नहीं था, छुआछूत का भी विचार नहीं था, कामिनी-कांचन पर तनिक भी मन नहीं था। जहाँ भी काम-कांचन का सम्बन्ध होता उससे उन्हें घोर घृणा होती। उसके ऊपर फिर बीच-बीच में होता रहता भावावेश। पहना हुआ कपड़ा कभी कमर में रहता तो कभी बगल में। सर्वदा ही उनके मधुर कण्ठ से भगवान् की लीला के गुण-गीत चलते रहते। आचार-व्यवहार में वे मनुष्य से एकदम विपरीत थे। इसी से ससुराल के लोग भी उन्हें पागल कहते। उसके बाद कलकत्ता आये। अपना नित्य का काम—माँ-भवतारिणी की सेवा—दिन पर दिन करते-करते रामकृष्णदेव के भीतर प्रचण्ड आँधी उठ पड़ी। अत्यन्त कठिन साधनों का क्रम आरम्भ हुआ, अधिकांश गोपन रूप से। वे कभी-कभार ही लोगों की नजर में आते। साधन-भजन के काम में उनका आचार असाधारण था—कभी वे बालकवत् रहते तो कभी पिशाचवत् और कभी उन्मादवत्। यह सब कैसा है जानते हो? कभी वे माँ-भवतारिणी के बिछौने पर सो जाते; कभी झाड़ पर चढ़कर पेशाब करने लगते, कभी घृणित अवस्था में रहते—विष्ठा और चन्दन में कोई अन्तर न देखते। यह सब देख-सुनकर निम्न श्रेणी के लोगों से लेकर शास्त्रवित् पण्डित तक सभी

ठाकुर को घोर पागल समझने लगे। साधन-भजन समाप्त कर जब वे कुछ प्रकृतिस्थ हुए, तब जीव को ज्ञान, भक्ति, चैतन्य और ईश्वर-तत्त्व प्राप्त कराने के लिए व्याकुल हो उठे। पर जीव की तो काम-कांचन, विद्या-अहंकार, मान-यश में घोर आसक्ति है, वह रामकृष्णदेव द्वारा बाँटी जाने-वाली वस्तुएँ नहीं चाहता; इसलिए कोई उनकी बात पर कान ही न देता। ठाकुर ने तब खरीददार जुटाने के लिए लोगों के द्वार-द्वार जाना आरम्भ किया। कहाँ कौन साधु शुद्धात्मा हैं, कहाँ कौन शास्त्रज्ञ पण्डित हैं, वह खोज-खोज-कर उनके आश्रम में जाकर उनसे भेंट करते। किसी ने ठाकुर को यथोचित सम्मान नहीं भी दिया। भूख लगी है, किसी के पास से कुछ खाना चाहते हैं, पर उसने दिया नहीं। ठाकुर भी छोड़नेवाले जीव नहीं थे। उनके अंग-प्रत्यंग अत्यन्त कोमल थे, मानो नवनीत से गढ़े गये हों। जमीन पर पैर फेंक-फेंककर चलने से तलवे के छिलकर रक्तरंजित हो जाने की आशंका बनी रहती। एक बार पूड़ी की धार से अँगुली कट गयी थी—इसी से समझ लो कैसा कोमल शरीर था! दस-बीस कदम जाने के लिए गाड़ी की आवश्यकता होती; इस गाड़ी-भाड़े के लिए लोगों का मुख ताकना पड़ता।

यहाँ एक कथा सुनो। जो ठाकुर त्यागियों के शिरोमणि थे—जिनका त्याग तन-मन-वचन में एक सुर में बँधा था, कामिनी-कांचन के स्पर्श से जिनके अंगों में ऐंठन होती, जो किसी पार्थिव वस्तु के प्रार्थी नहीं थे, इसीलिए जिनको किसी वस्तु का अभाव नहीं था, जिनके प्राण माँ-काली में समाये थे, जिनकी सर्वदा माँ-काली के साथ बातचीत होती रहती, जो इच्छामात्र से उनमें तन्मय हो जाते, उनको

लोगों के दरवाजे-दरवाजे दीन भिखारी की तरह सशंक चित्त से जाने का क्या प्रयोजन था? यदि इसका कारण जानना चाहते हो तो आकाश की ओर इन मेघों को देखो। यह वर्षाकाल है, मेघों को बुलाना नहीं पड़ता, अपने से ही व्याकुल होकर चारों तरफ फैल जाते हैं; क्यों जानते हो? पानी बरसाकर उत्तप्त धरती की ताप से रक्षा करने के लिए और सिर्फ धरती को शीतल करने ही नहीं, उसे फिर से हरा-भरा करने के लिए। ठाकुर रामकृष्णदेव की भी इसी प्रकार मेघों-जैसी दशा थी—अपार करुणासिन्धु दयावतार—मेघ जिस प्रकार जल के भार से चंचल, ठाकुर भी उसी प्रकार करुणा के भार से चंचल थे। व्याकुल प्राण से ज्ञान-शून्य होकर यहाँ-वहाँ द्वार-द्वार घूम रहे हैं—एकमात्र उद्देश्य है ईश्वर-तत्त्वरूपी शीतल शान्ति के दान द्वारा त्रिताप-सन्ताप से जीवों की रक्षा करना। उनकी कृपा की इति नहीं, दया के एक कण के कण का भी अनुभव करने की मनुष्य की शक्ति नहीं है। ठाकुर की दया की कथा सुनो—उनकी देह आदि जिस प्रकार दयापूर्ण थी, उसी प्रकार वह कष्ट-सहिष्णु भी थी। दया और कष्ट-सहिष्णुता के सम्बन्ध में जानना चाहते हो तो इस सर्व-सहनशील माटी के रूप को देखो—कठोर लोहे की कुदाल से, हल से कई प्रकार से खुदती-जुतती है, वह कुछ बोलती नहीं, जैसे किसी प्रकार का कष्ट न होता हो, बल्कि उलटे नाना प्रकार के द्रव्य प्रदान कर लोगों का उपकार करती है; ठाकुर भी उसी प्रकार थे। कितने लोग उनसे कितना कटु बोलते, कितने लोग कितने प्रकार से उनके श्रीअंगों पर अत्याचार करते, नाना प्रकार से अशोभनीय व्यवहार करते, किन्तु वे सदैव उन लोगों के मंगल के लिए ही

व्याकुल और तत्पर रहते। उनकी देह किस प्रकार की थी तुमको बतलाया ही है; नियम में थोड़ा व्यतिक्रम होते ही वे अस्वस्थ हो उठते। एक बार तीव्र पेट की पीड़ा थी—अन्न-त्याग करना पड़ा था, दिन में मात्र एक बार अत्यन्त तरल झोल* खाते; ऐसी अवस्था में भी उनको इधर-उधर जाने से विराम नहीं था। उनके पास एक तपस्वी रहते, वे हाजरा के नाम से जाने जाते थे। हाजरा ने एक दिन ठाकुर को समझाया——तुम सिद्ध पुरुष हो, मुक्त पुरुष हो, समाधिपरायण हो। उनमें तन्मय होकर क्यों नहीं रहते? अस्वस्थ शरीर है, फिर इधर-उधर घूमने-फिरने की क्या आवश्यकता? ठाकुर बालक की भाँति थे, जो जैसा बोलता उस पर उसी समय विश्वास कर लेते। हाजरा की बात सुनकर मन में निश्चय कर लिया——ठीक ही तो है, मेरे इस प्रकार छटपट करने की क्या आवश्यकता? इस प्रकार सोचते-सोचते पंचवटी की ओर पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही रो-रोकर व्याकुल हो उठे और उसी समय तेज कदमों से वापस लौटकर हाजरा से बोले——अरे, मूर्ख, मैं तुम्हारी बात नहीं सुनूँगा, झोल पीकर भी द्वार-द्वार जाकर दूसरों का उपकार करूँगा! अब सोचकर देखो, ठाकुर की दया का विस्तार कितना है, यह दया का भाव क्या मनुष्य के दिमाग में घुसेगा? मनुष्य मात्र घोर स्वार्थी है, बिना स्वार्थ के अति सामान्य कार्य भी नहीं करता; इसलिए स्वार्थी हृदय से दया दूर रहती है, दया की महिमा ऐसी है कि उसका आभास मात्र भी वहाँ प्रवेश नहीं करता।

---

* बंगाली रसेदार तरकारी, जो पथ्य के रूप में काम में लायी जाती है।

यह समय अत्यन्त कठिन है; इस काल में भगवान् का चिन्तन करना तो दूर की बात, वे हैं यह विश्वास भी मनुष्य के हृदय में नहीं है। करोड़ों में दो-एक जो ऐसा विश्वास रखते भी हैं, वे यह अच्छी तरह से समझे हुए हैं कि भगवान्-लाभ का कोई उपाय नहीं है; वे सोचते हैं कि फिर पुराणादि में जिन प्राचीन साधु-भक्तों को भगवान्-लाभ होने की कथा सुनने को मिलती है, वह किस काल की कथा है? कब किसको क्या हुआ, यह नहीं देखना है। अब तो वे दिन नहीं हैं। ऐसे करोड़ों लोगों में जो दो-एक अपेक्षाकृत उन्नत हैं, वे बहुत हुआ तो कर्मकाण्ड तक पहुँच पाये हैं। काल की ऐसी गति के समय ठाकुर का अवतरण हुआ है। ठाकुर अवतीर्ण हुए हैं फिर किस प्रकार का भाव लेकर? एकदम बाह्यैश्वर्यविहीन—जिससे लोग कुछ भी उनमें पकड़ने लायक न पा सकें। अति सरल, अति सीधे, अति दीन वेशधारी। जो ज्ञानी के ब्रह्म, योगी की आत्मा, भक्त के भगवान्, जो सृष्टि-प्रसविणी आद्याशक्ति महादेवी के स्वामी हैं, जो जीव-जगत् के सृजन, पालन और संहार के एकमात्र देवता हैं, वे ही दीन-द्विज-निरक्षर के वेश में कंगाल की तरह मनुष्य के दर-दर घूम रहे हैं, ये सब बातें मनुष्य के दिमाग में भला किस प्रकार घुस सकती हैं? भगवान् जब लीला-वेश में अवतार लेकर लीला-क्षेत्र में आते हैं, तब उनको पहचानना बहुत मुश्किल है—बड़ा कठिन है। अब समझे व्यक्त होकर गुप्त और सरल होकर जटिल किसको कहते हैं?

(क्रमशः)

○

पुस्तक-समीक्षा

साहित्य वीथी

पुस्तक का नाम : From the Unreal to the Real : Spirituality in Theory and Practice.

लेखक : स्वामी भाष्यानन्द

प्रकाशक : विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, ५४२३, हाइड पार्क बुलेवर्ड, शिकागो, इलिनॉय ६०६१५

पृष्ठ संख्या : ३८६ । छत्तीस, मूल्य–६.९५ डालर

समीक्ष्य ग्रन्थ स्वामी भाष्यानन्द के व्याख्यानों एवं कक्षा-टीपों का संग्रह है, जो उन्होंने विगत २० वर्षों में शिकागो एवं गैंजेस टाउनशिप में दिये। रामकृष्ण मठ, नागपुर के अध्यक्ष स्वामी व्योमरूपानन्द ने इसका प्राक्कथन लिखा है तथा भूमिका प्रो० सैम फोह्न द्वारा लिखी गयी है। ग्रन्थ स्वामी विरजानन्द को समर्पित है, जो रामकृष्ण संघ के छठे अध्यक्ष थे।

ग्रन्थ के चार खण्ड हैं—'धर्म', 'हिन्दू धर्म', 'साधना' एवं 'श्रीरामकृष्ण', तथा उसमें ४० अध्याय हैं।

चूंकि ये प्रवचन और व्याख्यान जिज्ञासुओं के समक्ष दिये गये थे, इसलिए इनमें एक वैयक्तिक घनिष्ठता तथा व्यावहारिकता का भाव है। भाषा सरल, सीधी और पढ़ने में आकर्षक है। जिन विषयों को गूढ़ और समझने में कठिन माना जाता है, उनका सरल और सुबोध्य विवेचन मनोमुग्धकारी है। उदाहरणार्थ, "योग और वेदान्त में परमात्मा और जीवात्मा के मिलन के लिए 'समाधि' शब्द का व्यवहार होता है, और यह समाधि तब होती है, जब मन की सक्रियता निरुद्ध हो जाती है तथा उसे पार कर लिया जाता है।" (पृ० ३७)

ग्रन्थ में ऐसी कई सूक्तियाँ हैं, जो गहन अन्तर्बोध की जगमगाहट सूचित करती हैं। उदाहरण के लिए : '. . . .अन्तःप्रज्ञा कभी भी बुद्धि को नहीं काटेगी। यदि कोई साधु व्यक्ति अयौक्तिक व्यवहार

करता है, तो उस पर कभी विश्वास न करो। वह स्वयं को ठगता है तथा दूसरों को भी।' (पृ० ४३) 'टिकाऊ शान्ति का सच्चा आधार है मानव-प्रेम।' (पृ० ८१) 'अज्ञजन आत्म-साक्षात्कारी पुरुष को समझ नहीं पाते, क्योंकि वह किसी सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया का अंग नहीं होता....। जो समाज उनकी (आत्मसाक्षात्कारी पुरुषों की) अवहेलना करता है तथा मात्र सैनिक, राजनैतिक एवं सामाजिक शक्ति पर भरोसा करता है, वह समय पाकर विखण्डित हो जाता है।' (पृ० १६०)

जिस ढंग से धर्म के सिद्धान्तों एवं व्यवहार को समन्वित किया गया है (पृ० ६४-७१) तथा आध्यात्मिक जीवन के गठन में क्रिया-अनुष्ठानों की भूमिका पर पहल की गयी है (पृ० ९०-९१), वे विश्वसनीय हैं।

ग्रन्थ के तीसरे खण्ड---'साधना'---में मूल्यवान् व्यावहारिक निर्देश दिये गये हैं (पृ० २६६-२६९)। 'श्रीरामकृष्ण---आत्मा के उन्मेषक' लेख में श्रीरामकृष्ण के सन्देश को संक्षेप में, किन्तु प्रभावी ढंग से, प्रस्तुत किया गया है।

अब कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं, जिससे अगला संस्करण और भी सुन्दर निकले। ग्रन्थ का मुद्रण आम तरीके से छापाखाने में किया जाए, तो वह और भी आकर्षक होगा। अध्यायों की संख्या और खण्डों के मुख्य शीर्षक भले ही अनुक्रमणिका में दिये गये हैं, पर पुस्तक के भीतर नहीं हैं। कुछ छपाई की भूलें भी पृ० ५ पंक्ति ३, पृ० ११ पंक्ति ३ व ९, पृ० १७ पंक्ति २२ एवं पृ० ५४ पंक्ति ३३ में दिखाई पड़ती हैं।

पृ० ५१ में ईसामसीह, कृष्ण, बुद्ध और श्रीरामकृष्ण को 'जीवन्मुक्त' कहा गया है। क्या वे उससे अधिक कुछ नहीं हैं? यह अवतारवाद के सिद्धान्त के विपरीत जाता है।

संक्षेप में, ग्रन्थ बहुत ही पठनीय है तथा पाठक स्वामी भाष्यानंद की अन्य कृतियों की भी उद्ग्रीव होकर प्रतीक्षा करेंगे।

स्वामी हर्षानन्द

अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद

Registered with the Registrar of News Paper for India under No. R. N. 7764/63